विवेक-ज्योति

वर्ष ३८, अंक ६ जून २००० मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

भिलाई इस्पात संयंत्र

सर्वश्रेष्ठ से भी अधिक श्रेष्ठता की ओर

"यह जानकर प्रसन्नता हुई कि भिलाई इस्पात संयंत्र ने देश के सर्वश्रेष्ठ कार्यरत एकीकृत इस्पात संयंत्र के रूप में वर्ष 1996-97 के लिये प्रधानमंत्री ट्राफी अर्जित की है। भिलाई इस्पात संयंत्र ने पाँच वर्ष में चौथी बार इस ट्राफी को जीता है। इससे संयंत्र के प्रशंसनीय निष्पादन और सर्वोच्च बने रहने के दृढ़ निश्चय की सहज पुनरावृत्ति प्रदर्शित होती है।

सर्वश्रेष्ठता सिर्फ मील का एक पत्थर है, मंजिल नहीं। आज के विश्वव्यापी आर्थिक माहौल में विश्व में सर्वश्रेष्ठ होना ही लक्ष्य होना चाहिये...."

अटल बिहारी बाजपेयी
माननीय प्रधानमंत्री

देश के सर्वश्रेष्ठ एकीकृत इस्पात संयंत्र के रूप में चौथी बार प्रधानमंत्री ट्राफी विजेता

माननीय प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी बाजपेयी, श्री अरविंद पांडे, अध्यक्ष, सेल एवं श्री वि. गुजराल, प्रबंध निदेशक, भिलाई इस्पात संयंत्र को प्रधानमंत्री ट्राफी प्रदान करते हुये।

Prime Minister's Trophy
For Best Integrated Steel Plant
1996-97

स्टील अथॉरिटी ऑफ इण्डिया लिमिटेड
भिलाई इस्पात संयंत्र

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जून, २०००

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ३८
अंक ६

वार्षिक ५०/- **एक प्रति ५/-**

आजीवन सदस्यता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ७००/-

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (म. प्र.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यो तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल ससाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यन्त्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

नीति-शतकम्

शिरः शार्वं स्वर्गात्पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरं
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम् ।
अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥१०॥

अन्वय – इयं गङ्गा स्वर्गात् शार्व शिरः, पशुपति-शिरस्तः क्षितिधरम्, उत्तुंगात् महीध्रात् अवनिम्, अवनेः च अपि जलधिम्, अधः अधः स्तोकं पदं उपगता । अथवा विवेक-भ्रष्टानां शतमुखः विनिपातः भवति॥

भावार्थ – ये गंगाजी स्वर्ग से (गिरकर पहले) शिवजी के सिर पर, (फिर) शिवजी के मस्तक से ऊँचे पर्वत पर, ऊँचे पर्वत से पृथ्वी पर और पृथ्वी से समुद्र में (गिरीं) । इस प्रकार क्रमशः निम्नतर स्थानो को प्राप्त होती गयीं । अहो, विवेक से भ्रष्ट होनेवाला का इसी प्रकार सैकड़ों प्रकार से पतन हुआ करता है!

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक्छत्रेण सूर्यातपो
नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभौ ।
व्याधिर्भेषजसंग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषं
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥११॥

अन्वय – हुतभुक् जलेन, सूर्यातपः छत्रेण, समदः नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन, गोगर्दभौ दण्डेन, व्याधिः भेषज-सङ्ग्रहैः, विषं विविधैः मंत्रप्रयोगैः च वारयितुं शक्यः । (एवं) सर्वस्य शास्त्रविहितं औषधं अस्ति, (किन्तु) मूर्खस्य औषधं न अस्ति ॥

भावार्थ – अग्नि को जल के द्वारा, धूप को छतरी के द्वारा, मदमत्त हाथी को तीक्ष्ण अंकुश के द्वारा, बैल तथा गधों को डण्डे के द्वारा, रोग को औषधियाँ जुटाकर और विष को मंत्रों के प्रयोग से नियंत्रित किया जा सकता है; शास्त्रों में हर चीज के लिए दवा का विधान किया गया है, परन्तु मूर्ख को नियंत्रित करने का कोई उपाय नहीं है ।

– भर्तृहरि

रामकृष्ण-वन्दना

– १ –

आए रामकृष्ण भगवान ।
दिये जा रहे हैं जग जन को, अभिनव जीवन दान ।।

उदित हुआ है रवि प्राची में, जाग रही चेतना सभी में,
दीर्घ निशा के बाद हो रहा, मधुमय सुखद बिहान ।।

मार्ग दिखाया लोकालय को, दूर किया भवभय-संशय को,
जीवन का चिर लक्ष्य बताया, ईश्वर का सन्धान ।।

लीला ज्ञान अलौकिक अनुपम, करता दूर मोह माया भ्रम,
जिनके आलोकित होने से, भौतिकता है म्लान ।।

किया वहन सन्देश अलौकिक, गये विवेकानन्द चतुर्दिक,
आत्मबोध की आभा पाकर, मोहित सकल जहान ।।

दूर हो रहे द्वेष द्वन्द्व सब, फैल रही सर्वत्र शान्ति अब,
धर्म कला जीवन से जुड़कर, पुष्ट ज्ञान-विज्ञान ।।

– २ –

ठाकुर तुम समान हितकारी,
नहीं मिला कोई भी मुझको, देखी दुनिया सारी ।।

जनम जनम का मैं दुखियारा, भटक रहा था मारा मारा,
कृपा अकारण कर हर लीन्ही, मेरी विपदा भारी ।।

भव बन्धन से मुझे छुड़ाया, चित में भाव-भक्ति उपजाया,
करुणासिन्धु पतितपावन प्रभु, जाऊँ बलि-बलिहारी ।।

चरणों में अर्पित जीवन हो, नित्य तुम्हारा स्मरण मनन हो,
अब पल भर भी दूर न रखना, इतनी अरज हमारी ।।

– विदेह

राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा

स्वामी विवेकानन्द

(रामकृष्ण मिशन के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी निर्वेदानन्द जी ने स्वामी विवेकानन्द की अंग्रेजी ग्रंथावली में यत्र-तत्र बिखरे भारत तथा उसकी समस्याओं से सम्बन्धित विचारो का एक संकलन बनाया था । यह संकलन स्वामीजी के भारत-विषयक विचारो को समझने में काफी उपयोगी है तथा इसीलिए अतीव लोकप्रिय भी हुआ । 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लिए भी इसका हिन्दी रूपान्तरण प्रस्तुत किया जा रहा है । – सं.)

शिक्षा – समस्त सामाजिक दुर्गुणों का रामबाण इलाज

वर्तमान प्रणाली

जो शिक्षा तुम अभी पा रहे हो, उसमें कुछ अच्छा अंश भी है, परन्तु बुराइयाँ बहुत हैं । इसलिये ये बुराइयाँ उसके भले अंश को दबा देती हैं । सबसे पहली बात तो यह है कि यह शिक्षा मनुष्य बनाने वाली नहीं कही जा सकती । यह शिक्षा केवल और पूर्णत: निषेधात्मक है । निषेधात्मक या निषेध की बुनियाद पर आधारित शिक्षा मृत्यु से भी भयानक है । कोमलमति बालक पाठशाला मे भर्ती होता है और सबसे पहली बात जो उसे सिखाई जाती है, वह यह कि तुम्हारा बाप मूर्ख है । दूसरी बात जो वह सीखता है, वह यह है कि तुम्हारा दादा पागल है । तीसरी बात है कि तुम्हारे जितने शिक्षक और आचार्य हैं, वे पाखण्डी है । और चौथी बात है कि तुम्हारे जितने पवित्र धर्मग्रन्थ है, उनमे झूठी और कपोल-कल्पित बात भरी हुई हैं! इस प्रकार की निषेधात्मक बातें सीखते सीखते जब बालक सोलह वर्ष की अवस्था को पहुँचता है, तब तक वह निषेधो की गठरी बन जाता है – उसमें न जान रहती है न रीढ़ । अत: इसका जैसा परिणाम होना चाहिये था, वैसा ही हुआ है । पिछले पचास वर्षो से दी जाने वाली इस शिक्षा ने तीनो प्रान्तो म एक भी मौलिक विचारोवाला व्यक्ति पैदा नही किया । और जो मौलिक विचारों के लोग हैं, उन्होंने यहाँ शिक्षा नही पाई है, विदेशो मे पाई है अथवा अपने भ्रममूलक अन्धविश्वासो का निवारण करने के लिये पुन: अपने पुराने शिक्षालया मे जाकर अध्ययन किया है ।

बचपन से हमारी शिक्षा ही ऐसी होती है कि उसमें निषेध तथा नकारात्मकता का प्राबल्य हे । हम यही सीखने है कि हम नगण्य है, नाचीज है । शायद ही कभी हमें बताया जाता है कि हमारे देश मे भी महान् व्यक्तियो का जन्म हुआ है, एक भी अच्छी बात नही सिखाई जाती । अपने हाथ-पैर चलाना तक तो हम नही आता! हम केवल निर्बलता के ही पाट पढ़ते हे ।

शिक्षा की वर्तमान व्यवस्था 'बाबू' पैदा करने की मशीन के सिवाय कुछ नही है । अगर इतना ही होता, तब भी ठीक था, पर नही – इस शिक्षा से लोग किस प्रकार श्रद्धा और विश्वास स रहित हात जा रहे हैं! व कहते है कि गीता तो एक प्रक्षिप्त अंश है और वेद देहाती गीत मात्र है! वे भारत के बाहर के देशों तथा विषयों के सम्बन्ध में तो हर बात जानना चाहते हैं, पर यदि कोई उनसे उनके पूर्वजों के नाम पूछे, तो चौदह पीढ़ी तो दूर रही, सात पीढ़ी तक भी नहीं बता सकते ।

हमारे शिक्षा-शास्त्री हमारे बच्चों को केवल तोता बना रहे हैं और रटा-रटाकर उनके मस्तिष्क में कई विषय ठूँसते जा रहे हैं । वाह! ग्रेजुएट बनने के लिये कितना उन्माद है और कितनी दौड़-धूप हो रही है! और कुछ दिनों बाद सब ठण्डा पड़ जाता है । और आखिर में वे सीखते भी क्या हैं – बस यही न कि हमारा धर्म, आचार-विचार, रीति-रिवाज सब खराब हैं और पश्चिमी लोगों की सारी बातें अच्छी हैं! इस प्रकार हम महानाश को निमंत्रित कर रहे है । आखिर इस उच्च शिक्षा के रहने या न रहने से क्या बनता-बिगड़ता है? यह कहीं ज्यादा अच्छा हागा कि यह उच्च शिक्षा प्राप्त कर नौकरी के लिए दफ्तरो की खाक छानने के बजाय लोग थोड़ी-सी तकनीकी शिक्षा प्राप्त करें, जिससे काम-धंधे में लगकर वे अपना पेट तो पाल सकेंगे ।

शिक्षा क्या वह है, जिसने निरन्तर इच्छाशक्ति को बलपूर्वक पीढ़ी-दर-पीढ़ी रोककर प्राय: नष्ट कर दिया है, जिसके प्रभाव से नये विचारों की तो बात ही क्या, पुराने विचार भी क्रमश: लुप्त होते जा रहे हैं? क्या वह शिक्षा है, जो मनुष्य को धीरे धीरे मशीन बना रही है? मेरे विचार से, जो स्वयंचालित यंत्र के समान सुकर्म करता है, उसकी अपेक्षा अपनी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति तथा बुद्धि क बल से अनुचित कर्म करनेवाला बेहतर है।

कुछ उपाधियाँ प्राप्त करने या अच्छा भाषण दे सकने से ही तुम्हारी दृष्टि में वे शिक्षित हो गये! जो शिक्षा साधारण व्यक्ति को जीवन-संग्राम मे समर्थ नही बना सकती, जो मनुष्य म चरित्र-बल, परहित-भावना तथा सिंह के समान साहस नही ला सकती, वह भी कोई शिक्षा है? जिस शिक्षा के द्वारा अपने जीवन मे अपने पैरो पर खड़ा हुआ जा सकता है, वही शिक्षा है । आजकल के इन सब स्कूल-कॉलेजो म पढ़कर तुम लोग न जाने अजीर्ण के रोगियो की कैसी एक जमात तैयार कर रहे हो । केवल मशीन की तरह काम कर रहे हो और 'जायस्व म्रियस्व' वाक्य के साक्षी-रूप म खड़े हो!

सच्ची शिक्षा

शिक्षा किसे कहते हैं? क्या वह पठन मात्र है? नहीं। क्या वह नाना प्रकार का ज्ञानार्जन है? नहीं, यह भी नहीं। जिस संयम के द्वारा इच्छाशक्ति का प्रवाह और विकास वशीभूत करके उसे फलदायी बनाया जाता है, उसी को शिक्षा कहते हैं। केवल शब्दों का रटना मात्र नहीं, बल्कि मानसिक शक्तियों का विकास या व्यक्तियों को ठीक ढंग से तथा दक्षतापूर्वक इच्छा करने का प्रशिक्षण देने को हम शिक्षा कह सकते हैं।

समस्त शिक्षण तथा प्रशिक्षण का एकमात्र उद्देश्य मनुष्य-निर्माण होना चाहिए। शिक्षा का मतलब ऐसी जानकारियों का ढेर नहीं है, जिन्हें तुम्हारे दिमाग में इस तरह ठूँस दिया गया हो कि वे जीवन भर अनपची रहकर गड़बड़ी पैदा करती रहे। जिस शिक्षा से हम अपना जीवन-निर्माण कर सकें, मनुष्य बन सकें, चरित्र-गठन कर सकें और विचारों का सामंजस्य कर सकें, वही वास्तव में शिक्षा कहलाने योग्य है। यदि तुम केवल पाँच ही विचारों को पचाकर तदनुसार जीवन और चरित्र गठित कर सके हो, तो तुम एक पूरे ग्रन्थालय को कण्ठस्थ कर लेनेवाले व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक शिक्षित हो। कहा भी है – **यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य** – अर्थात् "वह गधा, जिसके ऊपर चन्दन की लकड़ियों का बोझ लाद दिया गया हो, बोझ की ही बात जान सकता है, चन्दन के मूल्य को वह नहीं समझ सकता।" यदि तरह तरह की सूचनाओं का संग्रह करना ही शिक्षा कहलाता, तब तो पुस्तकालय संसार में सर्वश्रेष्ठ महापुरुष और विश्वकोष ही महान ऋषि बन जाते।

शिक्षा से मेरा तात्पर्य आधुनिक प्रणाली की शिक्षा से नहीं, वरन् ऐसी शिक्षा से है, जो सकारात्मक हो और जिससे स्वाभिमान तथा श्रद्धा के भाव जागें। केवल किताबें पढ़ा देने से कोई लाभ नहीं। हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है, जिससे चरित्र-निर्माण हो, मानसिक शक्ति बढ़े, बुद्धि विकसित हो और देश के युवक अपने पैरों पर खड़े होना सीखे। आज हमें आवश्यकता है वेदान्तयुक्त पाश्चात्य विज्ञान की, ब्रह्मचर्य के आदर्श और श्रद्धा तथा आत्मविश्वास की।

भौतिकशास्त्रों का अध्ययन और दैनिक उपयोग की वस्तुओं का मशीनों द्वारा उत्पादन – क्या यही उच्च शिक्षा का अर्थ है। उच्च शिक्षा का उद्देश्य है – जीवन की समस्याओं को सुलझाना – और वर्तमान सभ्य संसार आज भी इन्हीं समस्याओं पर गहन चिन्तन कर रहा है, परन्तु हमारे देश में हजारों वर्ष पूर्व ही ये गुत्थियाँ सुलझा ली गई थीं।

शिक्षा का अर्थ है – उस पूर्णता की अभिव्यक्ति, जो सब मनुष्यों में पहले से ही विद्यमान है। ... मैं धर्म को शिक्षा का अन्तर्तम अंग समझता हूँ। ध्यान रखिए कि धर्म के विषय में मैं अपनी या किसी दूसरे के धारणा की बात नहीं कहता। ... धर्म तो भात के समान है, शेष सब वस्तुएँ कढ़ी और चटनी जैसी हैं। केवल कढ़ी और चटनी खाने से या केवल भात खाने से भी अपथ्य हो जाता है।

आदर्श पद्धति

एकाग्रता और अनासक्ति :

हम लोगों के लिये ज्ञानलाभ का केवल एक ही उपाय है। निम्नतम मनुष्य से लेकर सर्वोच्च योगी तक को इसी का सहारा लेना पड़ता है। यह उपाय है एकाग्रता। रसायनशास्त्री जब अपनी प्रयोगशाला में काम करते हैं, तब वे अपने मन की सारी शक्ति को एकत्र – केन्द्रीभूत कर लेते है –और उस शक्ति का मूल पदार्थों के ऊपर प्रयोग करते ही, वे सब विश्लेषित हो जाते हैं और इस प्रकार वे उनका ज्ञानलाभ करने में समर्थ होते हैं। ज्योतिर्विद् भी अपनी समस्त मनःशक्ति को एकीभूत कर – केन्द्रीभूत कर – दूरवीक्षण यंत्र के माध्यम से वस्तु के ऊपर प्रयोग करते हैं, जिससे घूमनेवाले तारे और ग्रहमण्डल उनके निकट अपने रहस्य उद्घाटित कर देते हैं।

मन की शक्तियों को एकाग्र करने के सिवाय अन्य किस तरह संसार में ये समस्त ज्ञान उपलब्ध हुए हैं? यदि, प्रकृति के द्वार पर कैसे खटखटाना चाहिए, उस पर कैसे आघात देना चाहिए, केवल यह ज्ञात हो गया, तो बस, प्रकृति अपना सारा रहस्य खोल देती है। उस आघात की शक्ति और तीव्रता एकाग्रता से ही आती है। मानव-मन की शक्ति की कोई सीमा नही। वह जितना ही एकाग्र होता है, उतनी ही उसकी शक्ति एक लक्ष्य पर केन्द्रित होती है; यही रहस्य है।

मोची यदि जरा अधिक मन लगाकर काम करे, तो वह जूतों को अधिक अच्छी तरह से पालिश कर सकेगा। रसोइया एकाग्र होने से भोजन को अधिक अच्छी तरह पका सकेगा। अर्थ का उपार्जन हो, चाहे भगवद्-आराधना हो – जिस काम में जितनी अधिक एकाग्रता होगी, वह कार्य उतनी ही भलीभाँति सम्पन्न हो सकेगा। द्वार के निकट जाकर बुलाने से या खटखटाने से जैसे द्वार खुल जाता है, उसी भाँति केवल एक उपाय से ही प्रकृति के भण्डार का द्वार खुलकर विश्व में प्रकाशधारा प्रवाहित होती है। एकाग्रता की यह शक्ति ही ज्ञान के भण्डार की एकमात्र कुंजी है।

मन की एकाग्रता के सामर्थ्य के विकास के साथ साथ हमें अनासक्ति के सामर्थ्य का भी विकास करना चाहिए। सब ओर से मन को हटाकर किसी एक वस्तु में उसे नियोजित करना ही नहीं, वरन् एक क्षण में उसे वहाँ से हटाकर किसी अन्य वस्तु में स्थापित करना भी अवश्य सीखना चाहिए। इसे निरापद बनाने के लिये दोनों का अभ्यास एक साथ बढ़ाना चाहिए।

यह मन का सुव्यवस्थित विकास है । मेरे विचार से तो शिक्षा का सार मन की एकाग्रता प्राप्त करना है, तथ्यों का संकलन नहीं । यदि मुझे फिर से अपनी शिक्षा आरम्भ करनी हो और उसमें मेरा वश चले, तो मैं तथ्यों का अध्ययन कदापि न करूँ । मैं मन की एकाग्रता और अनासक्ति की क्षमता बढ़ाऊँगा और उपकरण के पूर्णतया तैयार हो जाने पर उससे आवश्यकतानुसार तथ्यों का संकलन करूँगा । बच्चे में एकाग्रता और अनासक्ति की क्षमता साथ साथ विकसित होनी चाहिए ।

ब्रह्मचर्य : हर बालक को पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने का व्रत लेना चाहिए, तभी हृदय में श्रद्धा और भक्ति का उदय होगा । तन-मन-वचन से सर्वदा सब अवस्थाओं में मैथुन का त्याग ही ब्रह्मचर्य है । ब्रह्मचर्य के अभाव से ही हमारे देश का सब कुछ नष्ट हो गया । ... एकमात्र ब्रह्मचर्य का ठीक ठीक पालन कर सकने पर सभी विद्याएँ क्षण भर में याद हो जाती हैं – मनुष्य श्रुतिधर, स्मृतिधर बन जाता है । ब्रह्मचर्यवान मनुष्य के मस्तिष्क में प्रबल शक्ति – महती इच्छा-शक्ति संचित रहती है । कामेच्छा का संयमन करने से उससे उच्चतम फल प्राप्त होता है । कामशक्ति को आध्यात्मिक शक्ति में परिणत करो । यह शक्ति जितनी प्रबल होगी, इसके द्वारा उतना ही अधिक कार्य हो सकेगा । प्रबल जलधारा मिलने पर ही उसकी सहायता से खान खोदने का कार्य किया जा सकता है ।

श्रद्धा : अब हमें पुनः एक बार उस सच्ची श्रद्धा का भाव जाग्रत करना होगा । एकमात्र इस श्रद्धा के भेद से ही मनुष्य मनुष्य में अन्तर पाया जाता है । इसका कोई अन्य कारण नहीं । यह श्रद्धा ही है जो एक मनुष्य को बड़ा और दूसरे को कमजोर तथा छोटा बनाती है । ... जो व्यक्ति दिन-रात अपने को दीन-हीन या अयोग्य समझे हुए बैठा रहेगा, उसके द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता । वास्तव में अगर दिन-रात वह अपने को दीन, नीच तथा 'कुछ नहीं' समझता है, तो वह 'कुछ नहीं' ही बन जाता है । हम तो उसी सर्वशक्तिमान परमपिता की सन्तान हैं, उसी अनन्त ब्रह्माग्नि की चिनगारियाँ हैं – भला हम 'कुछ नहीं' क्योंकर हो सकते हैं? हम सब कुछ हैं, हम सब कुछ कर सकते हैं और मनुष्य को सब कुछ करना ही होगा – हमारे पूर्वजों में ऐसा ही दृढ़ आत्मविश्वास था । इसी आत्मविश्वास रूपी प्रेरणा-शक्ति ने उन्हें सभ्यता से उच्च-से-उच्चतर सीढ़ी पर चढ़ाया था । और, अब यदि हमारी अवनति हुई हो, हममें दोष आया हो, तो मैं तुमसे सच कहता हूँ, जिस दिन हमारे पूर्वजों ने अपना यह आत्मविश्वास गँवाया, उसी दिन से हमारी यह अवनति, यह दुरवस्था आरम्भ हो गई । अतएव, भाइयो! तुम अपनी सन्तानों को उनके जन्मकाल से ही इस महान्, जीवनप्रद, उच्च और उदात्त तत्त्व की शिक्षा देना आरम्भ कर दो ।

चरित्र : तुमको आवश्यकता है, चरित्र की और इच्छाशक्ति को सबल बनाने की । अपनी इच्छाशक्ति का प्रयोग करते रहो, तो और भी उन्नत हो जाओगे । इच्छा सर्वशक्तिमान है । केवल चरित्र ही कठिनाइयों के दुर्भेद्य पत्थर की दिवारों को भेदकर उस पार जा सकता है । किसी मनुष्य का चरित्र वास्तव में उसकी मानसिक प्रवृत्तियों एवं मानसिक झुकाव की समष्टि ही है । ... हम अभी जो कुछ हैं, वह सब अपने चिन्तन का ही फल है । चिन्तन ही बहुकाल-स्थायी है और उसकी गति भी दूरव्यापी है । अतः तुम क्या चिन्तन करते हो, इस विषय में विशेष ध्यान रखो । हमारा प्रत्येक कार्य, हमारा प्रत्येक अंग-संचालन, हमारा प्रत्येक विचार हमारे चित्त पर इसी प्रकार का एक संस्कार छोड़ जाता है । हम प्रत्येक क्षण जो कुछ होते हैं, वह इन संस्कारों के समूह द्वारा ही निर्धारित होता है । प्रत्येक मनुष्य का चरित्र इन संस्कारों की समष्टि द्वारा ही नियमित होता है । यदि भले संस्कारों का प्राबल्य रहे, तो मनुष्य का चरित्र अच्छा होता है और यदि बुरे संस्कारों का, तो बुरा ।

मन में ऐसे बहुत-से संस्कार पड़ने पर वे इकट्ठे होकर आदत के रूप में परिणत हो जाते हैं । ... बुरी आदतों को दूर करने का एकमात्र उपाय है – उसके विपरीत आदत डालना । हमारे चित्त में जितनी भी बुरी आदतें संस्कार-बद्ध हो गई हैं, उन्हें अच्छी आदतों के द्वारा नष्ट करना होगा । केवल सत्कार्य करते रहो, सर्वदा पवित्र चिन्तन करो; बुरे संस्कारों को रोकने का एकमात्र यही उपाय है ।

चरित्र के गठन में भले और बुरे तत्त्वों का समान अंश रहता है और कभी कभी तो सुख से ज्यादा दुःख ही बड़ा शिक्षक सिद्ध होता है । यदि हम संसार के महापुरुषों के चरित्र का अध्ययन करें, तो मैं कह सकता हूँ कि अधिकांश दृष्टान्तों में हम देखेंगे कि सुख की अपेक्षा दुःख ने तथा सम्पत्ति की अपेक्षा दारिद्र्य ने ही उन्हें अधिक शिक्षा दी है और प्रशंसा की अपेक्षा आघातों ने ही उनकी अन्तःस्थ अग्नि को अधिक प्रज्ज्वलित किया है । फूलों की सेज और वैभव की गोद में पला हुआ, जिसने एक बूंद भी आँसू नहीं बहाया, क्या ऐसा कोई व्यक्ति कभी महान् हुआ है?

प्रकृति से निकटता : क्या तुमने उपनिषदों की कथाएँ नहीं पढ़ी हैं? एक कथा सुनाता हूँ । ब्रह्मचारी सत्यकाम गुरु के पास अध्ययन के लिये गया । गुरु ने उसे गायें चराने जंगल में भेज दिया । गायें चराते चराते कई महीने बीत गये । गायों की संख्या भी दुगुनी हो गई । तब सत्यकाम ने आश्रम लौट चलने का विचार किया । मार्ग में एक वृषभ, अग्नि तथा कुछ अन्य प्राणियों ने सत्यकाम को ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया । जब शिष्य आश्रम में गुरु को प्रणाम करने पहुँचा, तो गुरु ने उसे देखते ही जान लिया कि उसने ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया है ।

इस कथा का मर्म यह है कि सच्ची शिक्षा सर्वदा प्रकृति के सम्पर्क मे रहने से ही प्राप्त होती है ।

गुरुकुल व्यवस्था : मेरे मतानुसार शिक्षा का अर्थ है – 'गुरुगृह वास' । शिक्षक के व्यक्तिगत जीवन के विना कोई शिक्षा नही हो सकती । छात्र को अपनी बाल्यावस्था से ही एक ऐसे व्यक्ति के साथ रहना चाहिए, जिनका चरित्र जाज्वल्यमान अग्नि के समान हो, जिससे उच्चतम शिक्षा का सजीव आदर्श शिष्य के सामने बना रहे । हमारे देश में अध्यापन का महान् कार्य सदैव त्यागी व्यक्तियों ने ही किया है । अध्यापन और शिक्षा का भार पुन: त्यागियों के कन्धों पर पड़ना चाहिए ।

भारत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति आधुनिक शिक्षा से बहुत भिन्न है । उसमे विद्यार्थियो को कोई शुल्क नहीं देना पड़ता था, क्योंकि ऐसा सोचा जाता था कि ज्ञान अत्यन्त पवित्र है और इसे बेचना नही चाहिए । शिक्षादान नि:शुल्क तथा उदारतापूर्वक होना चाहिए । गुरुजन शिष्यों को नि:शुल्क भर्ती करते थे और इतना ही नही, बल्कि उनमें से अधिकांश अपने शिष्यों को भोजन-वस्त्र भी देते थे । ये गुरुजन कुछ विशेष प्रकार की दान-दक्षिणा के सर्वप्रथम अधिकारी समझे जात थे और वे उसके बदले मे अपने छात्रों का पालन-पोषण करते थे । शिक्षक को धन, नाम या यश सम्बन्धी स्वार्थ-सिद्धि हेतु शिक्षा नही देनी चाहिए । उनका कार्य तो केवल प्रेम से, सम्पूर्ण मानवता के प्रति विशुद्ध प्रेम से ही प्रेरित हो ।

पूर्वकाल में शिष्यगण हाथ मे समिधा लिए गुरु के आश्रम में जाया करते थे । गुरु उनको अधिकारी समझने पर दीक्षा देकर वेद पढ़ाते थे । गुरु के प्रति श्रद्धा, नम्रता, विनय और आदर के बिना हमारी कोई उन्नति नहीं हो सकती । जिन देशों में गुरु-शिष्य-सम्बन्ध की उपेक्षा हुई है, वहाँ शिक्षक एक वक्ता मात्र रह गया है – शिक्षक को मतलब रहता है केवल अपनी 'दक्षिणा' से और शिष्य को मतलब रहता है गुरु के शब्दो से, जिन्हे वह अपने मस्तिष्क में ढूँस लेना चाहता है । यह हो गया कि बस, दोनों अपना अपना रास्ता नापते हैं ।

सच्चा शिक्षक वही है, जो विद्यार्थी को सिखाने के लिये तत्काल उसी की मनोभूमि पर उतर आए और अपनी आत्मा को अपने छात्र की आत्मा में एकरूप कर सके और जो छात्र की ही दृष्टि से देख सके, उसी के कानों से सुन सके तथा उसी के मस्तिष्क से समझ सके । ऐसा ही शिक्षक शिक्षा दे सकता है – कोई दूसरा नहीं । विद्यार्थी के लिए आवश्यक है कि उसमें पवित्रता, सच्ची ज्ञान-पिपासा और अध्यवसाय हो । तन-मन और वचन की शुद्धता नितान्त आवश्यक है । रही ज्ञान-पिपासा की बात, तो इस सम्बन्ध में यह एक सनातन सत्य है कि **'जाकर जापर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलहु न कछु सन्देहू'** – हम जो चाहते हैं, वही पाते हैं । जिस वस्तु की अन्त:करण से चाह नहीं करते, वह हमें प्राप्त नहीं होती । जो छात्र इस प्रकार निष्ठा से साथ ज्ञानार्जन में प्रवृत्त होता है, उसे सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है ।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण : दूसरी बात जिसकी आवश्यकता है, वह है उस शिक्षा-पद्धति का निर्मूलन, जो मार-मारकर गधों को घोड़ा बनाना चाहती है । देखो, कोई भी किसी को कुछ नहीं सीखा सकता । जो शिक्षक यह समझता है कि वह कुछ सिखा रहा है, वह सब गुड़-गोबर कर देता है । वेदान्त का सिद्धान्त है कि मनुष्य के अन्तर में – एक अबोध शिशु में भी – ज्ञान का समस्त भण्डार निहित है । केवल उसको जाग्रत कर देने **की जरूरत है और यही शिक्षक का काम है । जैसे तुम पौधे को उगा नहीं सकते, वैसे ही तुम बच्चे को सिखा नहीं सकते । जो कुछ तुम कर सकते हो, वह केवल नकारात्मक पक्ष'** है – तुम केवल सहायता दे सकते हो । तुम उसके मार्ग की कठिनाइयों को दूर कर सकते हो, पर ज्ञान तो उसके अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होता है । जमीन को थोड़ी ढीली कर दो, जिससे अंकुर आसानी से फूट सके । उसे चारों ओर से घेर दो और ध्यान रखो कि कोई उसे नुकसान न पहुँचाए । बस, यहीं तुम्हारे कर्तव्य की इतिश्री हो जाती है । इससे अधिक तुम और कुछ नहीं कर सकते । शेष सब तो उसके अपने स्वरूप से ही अभिव्यक्त होता है । यही बात बालक की शिक्षा के सम्बन्ध में भी है । बालक स्वयं ही अपने को शिक्षित करता है ।

❖ (क्रमश:) ❖

विश्व का प्रयोजन

निराशावाद और आशावाद - दोनों ही गलत हैं। दोनों ही अतिवादी दृष्टिकोण हैं। ... यह ससार न तो अच्छा है, न बुरा। यह प्रभु का ससार है। अच्छाई और बुराई से परे यह अपने आपमें पूर्ण है। एक परमात्मा की इच्छा अनादि काल से विभिन्न रूपों में अपने आपको अभिव्यक्त कर रही है और अनन्त काल तक यह वैसा करती चली जाएगी। यह विश्व मानो एक विशाल अखाड़ा है, जिसमें हम और आप जैसे अनेक प्राणी आकर मानो व्यायाम करते हैं और अन्तत: शक्तिशाली एव पूर्ण होकर बाहर निकलते हैं। शायद इस विश्व का प्रयोजन ही यही है।

— *स्वामी विवेकानन्द*

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(सतहत्तरवाँ प्रवचन – चतुर्थांश)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व महाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज ने पहले बेलूड़ मठ में और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता में 'कथामृत' पर बँगला मे जो धारावाहिक प्रवचन दिये थे, वे संकलित होकर सात भागों मे प्रकाशित हुए हैं। इनकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इन्हें धारावाहिक रूप से प्रकाशित कर रहे हैं। अनुवादक श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर मे अध्यापक हैं। – सं.)

षट्चक्र

अब मास्टर महाशय ठाकुर के विषय में मन-ही-मन कह रहे है, "हाथ एक बार सिर पर रखा, फिर ललाट पर, फिर क्रमशः कण्ठ, हृदय और नाभि पर।" ऐसा वे क्यों कर रहे हैं, यह उन्होंने बताया नहीं। पर मास्टर महाशय सोच रहे हैं, "श्रीरामकृष्ण क्या षट्चक्रों में आदिशक्ति का ध्यान कर रहे हैं? शिवसंहिता आदि शास्त्रों में जो योग की बातें हैं, क्या वे यहीं हैं?" तंत्र में चक्रों के स्थान इस प्रकार हैं – मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा। इन छह चक्रों के ऊपर सातवाँ है सहस्रार। आद्याशक्ति वहाँ पहुँचने पर परमशिव के साथ मिलती हैं और तब ब्रह्म तथा शक्ति दोनों एक हो जाते हैं, यही चरम समाधि स्थान है। वहाँ शक्ति की कोई अलग अभिव्यक्ति या कोई क्रिया नहीं रह जाती।

स्मरण रहे कि ये चक्र कोई शारीरिक केन्द्र नहीं हैं। शरीर के अंश को काटने पर ये चक्र देखने में नहीं आएँगे। ये योगियो के लिये अनुभवगम्य हैं। योगीगण ही इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना नाड़ियों को देख पाते हैं। तो भी शरीर-क्रिया-वैज्ञानिक कहते हैं कि शास्त्रों में जिस प्रकार चक्रों का वर्णन मिलता है, ठीक वैसा ही दिखाई न देने पर भी उन सब स्थानों पर जाकर स्नायुएँ मानो आपस में जुड़ी हुई दीख पड़ती हैं। Spinal ganglia के साथ चक्रों का थोड़ा-सा सादृश्य मात्र है। वास्तविक चक्र योगियों के ध्यानगम्य हैं, स्थूल शरीर में इनकी कोई सत्ता नही है। अस्तु, इस कुण्डलिनी या षट्चक्र के विषय में बहुत-से लोग प्रश्न किया करते हैं, इसीलिए इस प्रसंग मे उसकी थोड़ी विषद व्याख्या की गई। वैसे हम लोगों को इन सब विचारों को मन से निकालकर यही प्रयास करना होगा कि किस प्रकार भगवान के प्रति भक्ति बढ़े, किस प्रकार संसार का आकर्षण कम हो और हमारे आचरण में शुद्धता आए। व्यावहारिक जीवन में हमे सत्यनिष्ठा, इन्द्रिय-संयम, सन्तोष आदि सद्गुणों का किस प्रकार विकास किया जाय, इसी ओर ध्यान देना होगा।

धार्मिक अनुष्ठान ईश्वरोपलब्धि के मार्ग हैं

ठाकुर ईशान मुखर्जी के साथ बातें कर रहे हैं। ईशान खूब जापक है। पुरश्चरण किया करते हैं। (सन्ध्या आदि) धार्मिक अनुष्ठानों पर उनका प्रबल अनुराग है। इसी प्रसंग में श्रीरामकृष्ण उनसे कहते हैं – ये आनुष्ठानिक धर्माचरण प्रारम्भिक साधक के लिये उपयोगी हैं, परन्तु भगवान पर प्रबल आकर्षण होने पर ये सब अच्छे नहीं लगते; तब फिर यह सब करना भी नहीं पड़ता। ठाकुर ने ईशान को कई बार बताया है कि वे धार्मिक अनुष्ठानों में आबद्ध न होकर भगवान के प्रति तीव्र अनुराग लाने का प्रयास करें। जितने दिन उनके पादपद्मों में भक्ति नहीं होती, उतने ही दिन आचार-अनुष्ठानों की आवश्यकता होती है। 'फल हो जाने पर फूल झड़ जाते हैं।' वैधी भक्ति के ये अनुष्ठान उद्देश्य नहीं, उपाय मात्र हैं। भगवान पर आकर्षण तथा अनुराग लाने के लिये ही इन्हें करना पड़ता है। जब तक हम संसार के काम-काज लेकर व्यस्त रहते हैं, तब तक समझना होगा कि हमारे मन में भगवान के प्रति अनुराग नही आया है। उनके लिये अनुराग आने पर संसार के काम-काज अपने आप ही बन्द हो जायेंगे। जैसा कि वे कहते हैं, "गृहस्थ की बहू के जब बच्चा होनेवाला रहता है, तब उसकी सास काम घटा देती है। फिर सन्तान हो जाने पर उसका कोई कार्य नहीं रह जाता। तब सन्तान का लालन-पालन ही उसका एकमात्र कार्य रहता है। भगवान के लिये तीव्र व्याकुलता हुए बिना जप-ध्यान तथा आनुष्ठानिक पूजा-पुरश्चरण आदि करना उपयोगी तो है, परन्तु इन्हीं में आबद्ध रहने से काम नहीं होगा। वे कहते हैं, "तुम इस तरह धीमा तीताला बजाते रहोगे, तो कैसे काम चलेगा? **हरि सो लागि रहो रे भाई; तेरी बनत बनत बनि जाई।**" धीरे धीरे उनके ऊपर अनुराग होगा – ठाकुर कहते हैं कि यह मुझे नहीं सुहाता। इसी क्षण ऐसा तीव्र वैराग्य चाहिये कि सब कुछ तुच्छ हो जायँ, सभी कार्य विस्मृत हो जायँ। जैसा कि गोपियों के बारे में कहा गया है – **इतररागविस्मारणं नृणान्** – भगवान के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं पर से आसक्ति चली जायेगी, भगवान से अनुराग होने पर ऐसा ही हुआ करता है।

इसके बाद ठाकुर स्वयं ही प्रश्न करते हैं, "तीव्र वैराग्य क्यों नहीं होता है? इसमें रहस्य है।" क्या रहस्य है? यही कि मन के भीतर विषय-वासनाएँ भरी हुई हैं, अतः वैराग्य भला कैसे होगा? उदाहरण देते हैं – जैसे मेंड़ के छेद से सारा पानी निकल जाता है, वैसे ही विषय-वासना के फलस्वरूप

साधन-भजन की शक्ति का अपव्यय हो जाता है । इसीलिए कहते है कि उन्हें बन्द करना होगा । एक और भी उपमा देते है – बंसी से मछली पकड़ी जाती है । बाँस तो सीधा ही होता है, परन्तु सिरे पर झुका हुआ इसलिए रहता है कि उससे मछली पकड़ी जाय । इसी प्रकार विषय-वासना के कारण मन नीचे की ओर झुका रहता है, भगवान की ओर उर्ध्वमुखी नही हो पाता । वे और भी दृष्टान्त देते हैं – जैसे तराजू के दोना ओर समान भार होने पर दोनो काँटे सीध में आकर मिल जाते है । नही तो विषय-वासना से एक ओर का पलड़ा भारी हो जाने से भगवान और मन दोनों एक नही हो पाते ।

इसी प्रसंग में वे और भी कहते है, "मन तितर-बितर हो रहा है । कुछ चला गया है ढाका, कुछ दिल्ली और कुछ कूचबिहार में है । उस मन को इकट्ठा करना होगा ।" यदि सोलह आने मन भगवान की ओर न लगाया जा सके, तो फिर भला उनका दर्शन, उनकी अनुभूति कैसे होगी? "तुम अगर सोलह आने का कपड़ा खरीदो, तो कपड़ेवाले को सोलह आने तुम्हे देने पड़ेंगे या नही?" कीर्तन में है – गोपियाँ यमुना पार होना चाहती हैं, मल्लाह श्रीकृष्ण कहते हैं, "मैं ऐसे ही पार नही करता, एक लाख कौड़ियाँ दोगी, तभी पार करूँगा ।" कीर्तनिया पद जोड़कर कहते, "लाख लक्ष्य नही, एक लक्ष्य होना चाहिये ।" इसी प्रकार हमारा मन लाख लाख लक्ष्यों की ओर दौड़ रहा है, इसीलिए भगवान में स्थिर नही हो पाता । वे ही हमारे एकमात्र गन्तव्य है, यही विश्वास यदि हम अपने मन मे दृढ़ कर सके, तो मन दूसरी ओर नही जायेगा और उसमें अदम्य शक्ति आ जायेगी । धागे से जरा-सा भी रेशा निकला हो, तो वह सुई में नहीं घुसता । भगवान की ओर मन ले जाना हो, तो जरा-सा भी विषय-वासना रहने से काम नही चलेगा ।

कर्मफल-समर्पण

इसके बाद वे कहते हैं, "संसार में हो तो क्या हुआ? सब कर्मो का फल ईश्वर को समर्पण करना चाहिए । स्वयं किसी फल की कामना नही करनी चाहिए ।" ईशान का सकाम कर्मो से खूब लगाव है, इसीलिए ठाकुर कहते हैं कि सबका फल ईश्वर को समर्पण करना चाहिए । सामान्य पूजाविधि पूजा के अन्त में उसका कर्मफल भगवान को अर्पित करना पड़ता है । इसे केवल मुख से कहने से काम नहीं चलेगा, हृदय से कहना होगा । परन्तु मनुष्य का मन ऐसा हिसाबी है कि वह इस प्रकार देने के बाद भी विचार करता है कि सब दे देने के बाद मेरे पास क्या रहा? इसके उत्तर में वे कहते हैं – कुछ भी नष्ट नहीं होगा । जैसे किसान कहते हैं कि जमीन में धान बोने पर लाखों गुना वापस मिलेगा, वैसे ही समस्त कर्मफल भगवान को देने पर उनसे लाखों गुना वापस मिलता है । मनुष्य का मन हिसाबी है, इसीलिए उन लोगों से कहा गया है – **कर्मणां वपनम्** । वस्तुत: उन्हें कर्मफल अर्पित करने के लिए हम लोगों को इस प्रकार प्रेरित किया जा रहा है । उन्हे कर्मफल अर्पित कर देने से कर्म के बन्धन से मुक्ति मिल जाती है । कर्मफल ही हमारे जन्म-जन्मान्तर के बन्धनो के कारण हैं – **कुर्वते कर्मभोगाय कर्मकर्तु च भुञ्जते** – कर्म किया जाता है भोग करने के लिए और भोग किया जाता है कर्म करने के लिए । अर्थात् भोग करने के साथ-ही-साथ नये कर्मो का भी संचय होते रहता है । एक के बाद एक यही चक्र चलता है । कर्म किये बिना कोई रह नहीं सकता । मनुष्य सर्वदा ही कर्म कर रहा है, भले ही वह चाहे जैसा कर्म भी क्यों न हो । अत: जब कर्म कर रहा है, तो उसका फल भी एकत्र हो रहा है ।

नाभुक्तं क्षीयते कर्मकल्पकोटिशतैरपि

– भोग किये बिना अरबो युगो मे भी कर्म का क्षय नही होता । जन्म जन्म में हमारे इस कर्म का बोझ बढ़ता ही जा रहा है और हम अनन्त काल से उसका वहन किए जा रहे हैं । इससे मुक्ति के दो उपाय हैं । एक उपाय है – समस्त कर्मो के फल भगवान को समर्पित कर देना, इससे स्वयं को कर्म का बोझ नहीं ढोना पड़ता; और दूसरा उपाय है – स्वयं को अकर्ता समझना, ऐसा होने पर कर्मफल का भोग नहीं करना पड़ेगा । मैं कर्ता नहीं हूँ, यही ज्ञान है । यह ज्ञानरूप अग्नि ही समस्त कर्मफल को भस्मसात् कर देती है । गीता में भगवान कहते हैं –

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।। ४/३७

– जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि पूरे काष्ठ को भस्म कर देती है, वैसे ही आत्मज्ञान रूपी अग्नि समस्त कर्मफल को भस्म कर देती है ।

व्याख्याकारों ने यहाँ समस्त कर्मफल का तात्पर्य संचित तथा आगामी कर्म बताया है, पर जिसने फल देना आरम्भ कर दिया है, उस प्रारब्ध कर्म का तो फल भोगना ही होगा । उसे तो ज्ञानाग्नि भी दहन नहीं कर सकती । यह एक मत है । कहते है कि पूर्व कर्मफल से किसी ने अन्धा होकर जन्म लिया, उसके बाद यदि उसे ज्ञान हो तो उसके सारे कर्मफल भस्म हो जाते हैं, तो क्या उसकी देखने की शक्ति भी लौट आएगी? ऐसा तो नहीं हो सकता । कितने ही कर्म हैं, जिनके फलस्वरूप इस शरीर की सृष्टि हुई है, उनका भोग करना ही होगा ।

एक अन्य मत है कि जिसे ज्ञान हुआ है वह अपने को न केवल अकर्ता बल्कि अभोक्ता के रूप में भी जानता है । अत: ज्ञान होने के साथ-ही-साथ उसके कर्तृत्व-बोध तथा भोक्तृत्व-बोध का लोप हो गया है । गीता (३/२८) में यह बात बड़ी अच्छी तरह बताई गयी है – **गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते** – गुण समूह गुणों में ही स्थित रहते हैं । गुणों के फल इन्द्रिय हैं, गुण तीन हैं – सत्व, रज: तथा तम: । तीनों गुणों का परिणाम है यह विश्व-ब्रह्माण्ड । इन्द्रियों द्वारा विषय-भोग

करने से गुणों के साथ गुणों का योग हो रहा है । आत्मा इन तीनों गुणों के परे है, अतः आत्मा के साथ इन विषय-भोगों का कोई सम्बन्ध नहीं है । लेकिन हम तो देख रहे हैं कि ज्ञानी कर्म करते हैं और भोग करते हैं! इसका उत्तर यह है कि वह आरोपित भोग है । हम आरोप कर रहे हैं कि ज्ञानी भोग कर रहा है । पंचदशी में एक दृष्टान्त देकर बताया गया है – **देह्यते गुञ्जापुञ्जं अन्यारोपित वह्निना** – वन में गुंजफल पके हैं । गुच्छे-के-गुच्छे लाल लाल फल इतने अधिक संख्या में फले हैं कि दूर से देखने से लगता है कि आग लग गई है, परन्तु उस आग से क्या फल या वृक्ष जल जाते हैं? नहीं जलते । क्योंकि वह सचमुच की अग्नि नहीं है, बल्कि आरोपित अग्नि है । जैसे उस आरोपित अग्नि से वृक्ष नहीं जलते, वैसे ही अन्य लोगों द्वारा आरोपित कर्तृत्व या भोक्तृत्व ज्ञानी को स्पर्श नहीं करता । वे इन सबसे लिप्त नहीं होते, तो फिर प्रारब्ध कहाँ जाएगा? उसके उत्तर में कहते हैं –

प्रारब्धं सिध्यति तदा यदा देहात्मनास्थितिः ।
देहात्मभावो नैवेष्टः प्रारब्धं त्यजतामतः।। वि. चू. ४५०

प्रारब्ध तभी सिद्ध होता है, जब शरीर में आत्मभ्रम होता है । शरीर कर्म का आश्रय है, उसे आत्मा के साथ अभिन्न मानकर ही हम सोचते हैं कि आत्मा कर्म कर रहा है । ज्ञानी की दृष्टि में आत्मा देह से भिन्न है, अतः ज्ञानी कोई कर्म नहीं करते, भोग भी नही करते । भगवान अर्जुन से कहते हैं –

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्।। ९/२७

– तुम जो कुछ करते हो, सब मुझे अर्पित करो । जो कुछ करते हो अर्थात् केवल पूजा-पाठ नहीं, यत् करोषि – जो कुछ करते हो, इसके बाद उसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं, यद् अश्नासि – जो कुछ खाते हो, यत् जुहोषि – जो होम करते हो, जो दान तथा तप करते हो अर्थात् लौकिक तथा शास्त्रीय समस्त कर्मो का फल तुम मुझे अर्पित करो । समस्त फल यदि भगवान को अर्पित कर दिया जाय, तो कर्मफल को वहन करने का उत्तरदायित्व हमारे ऊपर नहीं रह जाता, उसका भोग भी नहीं करना पड़ता ।

ठाकुर यही बात ईशान से कह रहे हैं, "संसार में हो तो क्या हुआ? सब कर्मो का फल ईश्वर को समर्पण करना चाहिये । स्वयं किसी फल की कामना न करनी चाहिए ।" फिर थोड़ा सावधान करतें हुए कहते हैं, "परन्तु एक बात है – भक्ति की कामना कामनाओं में नहीं है । भक्ति की कामना – भक्ति के लिये प्रार्थना कर सकते हो ।" इसके बाद भक्ति के लिए प्रार्थना के साथ साथ कहते हैं कि जनानी भक्ति से काम नही चलेगा, "भक्ति का तमोगुण लाओ, जोर देकर माँ से कहो । रामप्रसाद के एक गाने में है – यह माता और पुत्र का मुकदमा है, बड़ी धूम मची है, जब मैं अपने को तेरी गोद में बैठा लूँगा, तभी पिण्ड छोड़ूँगा ।" ऐसे ही जोर देकर हठ करना होगा । केवल म्याऊँ म्याऊँ करने से नहीं होगा । "त्रैलोक्य ने कहा था – जब मैं इस कुटुम्ब में जन्मा हूँ, तो मेरा हिस्सा जरूर है ।" वह रानी रासमणि का नाती है, अतः उसका सम्पत्ति पर हक है । इसी प्रकार जोर करके लेना पड़ेगा । ठाकुर कहते हैं, "अरे, वह तो तुम्हारी अपनी माँ है, कोई बनी-बनाई माँ थोड़े ही है! न धर्म की माता है । उस पर अपना जोर न चलेगा, तो और किस पर चलेगा? जिसकी जिसमें सत्ता होती है, उसका उस पर आकर्षण भी होता है । माँ की सत्ता हमारे भीतर है, इसीलिए तो माँ के ऊपर इतना आकर्षण होता है ।" माँ अनन्त शक्तिशालिनी हैं, उनकी शक्ति मेरे भीतर है, यह मेरी ही सम्पत्ति है – ऐसा सोचने पर मन में कितना बल आता है!

इसके बाद वे ईशान को विशेष रूप से कहते हैं, "और अब तो तुम्हें विषय-कर्म भी नहीं करना पड़ता, अब कुछ उन्हीं का चिन्तन करो । देख तो लिया कि संसार में कुछ नहीं है ।" वे बता रहे हैं कि संसार में कोई सार नहीं है; अब उसी में डूबे न रहकर मन को पूरी तौर से भगवान में लगाने का प्रयास करो ।

इसके बाद वे फिर कहते हैं, "और तुम बिचवई और मुखियाई – यह सब क्या किया करते हो? मैंने सुना है कि तुम लोगों के झगड़ों का फैसला किया करते हो, लोग तुम्हें सरपंच मानते हैं । यह सब तो बहुत कर चुके । जिन्हें यह सब करना है, वे करें । तुम इस समय उनके पादपद्मों में अधिक मन लगाओ ।" ठाकुर तरह तरह से ईशान को समझा रहे हैं । वे एक विधवा के विषय में कह रहे हैं – वह अपने भाई के साथ रहती थी और कहती थी कि मेरी देखरेख के बिना मेरे भतीजों का काम नहीं चलता । ठाकुर कहते हैं – मर अभागिन्, भगवान की ओर पूरा मन देने का क्या अब भी तेरा समय नहीं हुआ है? ठाकुर नाराज हैं । भगवान ने उसके लिए कोई जिम्मेदारी नहीं छोड़ी है । कहाँ तो इस सुअवसर का लाभ उठाकर वह अपना पूरा मन भगवान में लगाती, परन्तु उसके स्थान पर वह तरह तरह के झंझटों में फँस रही है ।

इसके बाद वे कहते हैं, "शम्भू ने भी कहा था, अस्पताल और दवाखाने बनवाऊँगा । वह भक्त था, इसीलिए मैंने कहा – ईश्वर के दर्शन होने पर क्या उनसे अस्पताल और दवाखाने माँगोगे?" यह उक्ति विशेष रूप से विचारणीय है, क्योंकि ऐसे भले कर्म करने को तो स्वामीजी ने भी कहा है, जिनसे लोकोपकार होता है । भले लोग तो ऐसे कर्मों को भला बताया करते हैं । तो फिर ठाकुर ने मना क्यों किया? इसलिए कि ठाकुर एक अन्य दृष्टि से देखकर कह रहे हैं कि जिस कर्तृत्व-बुद्धि के द्वारा प्रेरित होकर लोगों का कल्याण करने की सोच

रहे हो, उसी कर्तृत्व का त्याग करो। अस्पताल और दवाखाना बनवाओगे या नहीं, यहाँ यह प्रश्न नहीं है, बल्कि प्रश्न यह है कि तुम अपना मन भगवान को दोगे या नहीं। भगवान से तुम अस्पताल और दवाखाना माँगोगे या ज्ञान-भक्ति माँगोगे? जीवन की मुख्य चीज को छोड़कर गौण चीज को लेकर बैठे रहोगे? लोगों का कल्याण करने के लिये भी बहुत कुछ कहा है, स्वामीजी को तो इसके लिये बाध्य भी किया है, परन्तु वह अन्य भाव में है। सभी जीवों के भीतर उन्हें देखकर उनकी सेवा करो। तब वे कर्म नहीं होंगे और उन्हें भी निष्काम भाव से करने को कहा है। तब सारे कर्म पूजा में परिणत हो जायेंगे। **यत् करोमि जगन्मातस्तदेव तव पूजनम्** – मैं जो कुछ भी करता हूँ, सब तुम्हारी ही पूजा है।

अब ठाकुर केशव सेन के बारे में कहते हैं, "केशव सेन ने पूछा – ईश्वर के दर्शन क्यों नहीं होते? मैंने कहा – लोक-मर्यादा, विद्या यह सब लेकर तुम हो न, इसीलिए नहीं होता।" विषयासक्त मन की गति विषय की ओर रहती है, भगवान की ओर नहीं जाती। ईशान ठाकुर के इसी उपदेश से अभिभूत होकर कह रहे हैं, "मैं अपनी इच्छा से यह मन्त्र नहीं करता।" ठाकुर कहते हैं, "वह मैं जानता हूँ। यह माँ का ही खेल है!" जगदम्बा अपनी इच्छा से किसी के द्वारा कर्म करवाती है और उनकी इच्छा हुई तो समस्त कर्मबन्धन को काटकर मुक्ति भी दे सकती हैं। यदि लगे कि माँ करा रही हैं, तो निश्चिन्त हुआ जा सकता है। **त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि** – हे कृष्ण, तुम मेरे हृदय में स्थित होकर जैसा कराते हो, वैसा ही करता हूँ। यदि ऐसा हो, तो उस व्यक्ति का कर्तृत्व भी नहीं है और भोक्तृत्व भी नहीं है।

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।। दुर्गा. १/५५

– महामाया ज्ञानियों के मन को भी बलपूर्वक खींचकर मोहग्रस्त कर देती है। परन्तु वे कैसी माँ हैं, जो सन्तानों को मोहग्रस्त कर देती हैं। ठाकुर कहते हैं कि यही तो उनका खेल है। वे किसी को मुक्त कर रही हैं और किसी को बद्ध कर रही हैं –

सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी।
संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी।। वही, १/५७-५८

– वे ही संसार से मुक्ति की कारणभूत परमा विद्या हैं; फिर वे ही बन्धन की हेतु अविद्या भी हैं; वे समस्त ईश्वरों की भी ईश्वर हैं। अपने को पूरी तौर से उनके हाथों में यंत्र के रूप में देख पाने पर फिर चिन्ता की कोई बात नहीं रहती। तब हमें और नहीं भोगना पड़ेगा। बहुत से लोग कहते हैं – वे जैसा कराते हैं, वैसा ही करता हूँ। परन्तु क्या सचमुच ही उन्हें ऐसा बोध होता है? यदि किसी को होता हो, तो फिर वह दुःख में भी विह्वल नहीं होगा और सुख में भी गदगद नहीं होगा। वह सुख तथा दुःख में स्थिर रहेगा, क्योंकि उसने जान लिया है कि सुख-दुःख उसका स्पर्श नहीं करते, जो कर रहा है, वही उसका भोग भी करेगा।

❖ (क्रमशः) ❖

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें - 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अंक उपलब्ध होने पर ही पुनर्प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक रू. ३/- का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

प्रकृति पर विजय

मनुष्य का उद्देश्य 'प्रकृति' नहीं है - वरन् कुछ उससे ऊपर की वस्तु है। मनुष्य तभी तक मनुष्य कहा जा सकता है, जब तक वह प्रकृति से ऊपर उठने के लिए संघर्ष करता है। और यह प्रकृति बाह्य एवं आन्तरिक दोनों है। इस प्रकृति के भीतर केवल वे ही नियम नहीं हैं, जिनसे हमारे शरीर के तथा उसके बाहर के परमाणु नियंत्रित होते हैं, बल्कि ऐसे सूक्ष्म नियम भी हैं, जो वस्तुतः बाह्य प्रकृति को संचालित करनेवाली अन्तःस्थ प्रकृति का नियमन करते हैं। बाह्य प्रकृति को जीत लेना अच्छा है, भव्य है; पर उससे अनन्तगुना अच्छा और भव्य है अन्तर प्रकृति पर विजय पाना। ग्रहों और नक्षत्रों का नियन्त्रण करनेवाले नियमों को जान लेना बहुत अच्छा और गरिमामय है; पर उससे अनन्त गुना अच्छा और भव्य है उन नियमों को जानना, जिनसे मनुष्य के मनोवेग, भावनाएँ तथा इच्छाएँ नियंत्रित होती हैं। इस आन्तरिक मनुष्य पर विजय पाना, मन की जटिल व सूक्ष्म क्रियाओं के रहस्य को समझना पूर्णतया धर्म के अन्तर्गत आता है। – *स्वामी विवेकानन्द*

मानस-रोगों से मुक्ति (२/२)

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस-रोग' पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे । प्रस्तुत अनुलेखन सैंतालीसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है । टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक हैं । – सं.)

वैद्य चाहिए, दवा चाहिए, पथ्य चाहिए, संयम चाहिए । लेकिन इन उपायों का वर्णन करने के साथ साथ इसमें एक वाक्य जोड़ दिया गया । बोले –

राम कृपाँ नासहिं सब रोगा । ७/१२२(क)/५

यह कहने की क्या आवश्यकता थी? रामकृपा के बिना क्या रोग दूर नहीं होगा? रामकृपा की आवश्यकता पर अगर ध्यान दें, तो इसका अभिप्राय यह है कि भक्तों और महापुरुषों के जीवन में सद्गुण तो है ही और उसका सदुपयोग भी है, पर कभी-न-कभी एक ऐसी परिस्थिति आ जाती है, जब उनके चरित्र मे किसी दोष का भी वर्णन किया गया है, पर उसमे भी एक विशेषता है । भगवान भक्तों के दोषों को भी ऐसा रूप दे देते हैं कि वे कल्याणकारी हो जाते हैं । भक्तों के सन्दर्भ मे भगवान का यह एक बड़ा विलक्षण कार्य दिखाई देता है । देवर्षि नारद के प्रसंग में यह बात जुड़ी हुई है । देवर्षि नारद के मन में दोष आ जाते हैं, अनेक प्रकार के विकार आ जाते हैं, पर उसके बाद भी उनमें विशेषता यही है कि वे भगवान से जुड़ जाते हैं । नारद के जीवन में अगर भगवान का प्रवेश न हो, भगवान से सम्बन्ध न हो, यदि भगवान की कृपा न जुड़ी हो, तो जिस क्रम से नारद के मन में एक के बाद एक बुराइयाँ आईं, उसमें तो विनाश अवश्यम्भावी है । जैसे शरीर में एक भी भयानक रोग आ जाता है, तो व्यक्ति बेचैन रहता है, कभी रोग बढ़ जाने पर व्यक्ति की मृत्यु भी हो जाती है । कुछ रोग तो ऐसे होते हैं, जिसके होने से मृत्यु अवश्यम्भावी है, वैसे ही मन के भी कुछ रोग ऐसे रोग हैं, जिसमें मनुष्य का विनाश हो जाता है । फिर भी वहाँ पर एक सामंजस्य किया गया है । रोग चाहे जैसा हो, पहले चिकित्सा के द्वारा उसे दूर करने का भरपूर प्रयत्न किया जाता है और रोगी उससे स्वस्थ भी हो जाता है । पर कहीं-न-कहीं ऐसी बाध्यता आ जाती है, जैसे नारद के जीवन में दिखाई देता है । उनको मन का रोग हो गया । अब वैद्य चाहिए । सद्गुरु ही वैद्य है । रामायण में कहा गया कि संसार के सबसे बड़े सद्गुरु भगवान शंकर हैं –

तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना ।
आन जीव पाँवर का जाना ।। १/१११/५

संयोग देखिए, नारद रोगी हो गये, उन्हें अहंकार का वात या गठिया रोग हो गया और वे इसे लेकर पहुँचे संसार के सबसे बड़े वैद्य के पास और उनके पास सबसे बढ़िया दवा भी थी । पर बड़ी विचित्र बात हुई । होना तो यह चाहिये था कि रोगी अपना रोग डाक्टर अथवा वैद्य को बताये और वैद्य उसकी चिकित्सा करे । पर रोगी यदि ऐसा विचित्र हो, जो अपने स्थान पर चिकित्सक को ही रोगी समझे, तो! यह अहंकार का गठिया रोग होता ही ऐसा है कि रोगी अपने को नहीं, बल्कि दूसरों को ही रोगी देखता है । अब ऐसी स्थिति में बेचारा संसार का सबसे बड़ा वैद्य भी क्या करेगा! नारदजी के साथ यही हुआ । उन्हें यह तो दिखाई नहीं दे रहा कि उन्हें अपने विजय का अहंकार हो गया, उल्टे उन्हें यह लग रहा है कि शंकरजी को ईर्ष्या का रोग हो गया है, उन्हीं को चिकित्सा की जरूरत है । परिणाम यह हुआ कि बाद में नारदजी के पूछने पर कि 'आपकी भक्ति कैसे मिलेगी', भगवान बोले –

जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी ।
सो न पाव मुनि भगति हमारी ।। १/१३८/७

शंकरजी की भक्ति के बिना मेरी भक्ति नहीं मिल सकती । मानस-रोगों के सन्दर्भ में कहा गया है कि मन के रोगों की सबसे अच्छी दवा है भक्ति –

रघुपति भगति सजीवन मूरी । ७/१२२(क)/७

नारदजी के सामने सर्वश्रेष्ठ वैद्य भी थे, उनके पास सबसे अच्छी दवा भी थी, पर नारदजी की चिकित्सा नही हो पा रही है । लेकिन अन्त में उसमें एक बात जुड़ जाती है और उनका रोग दूर हो जाता है । इससे शंकरजी की महिमा कम नहीं हो जाती । उन्होंने एक वैद्य की तरह एक सद्गुरु को जो प्रयत्न करना चाहिए, वह किया । नारदजी से उन्होंने कहा –

बार बार बिनवउँ मुनि तोही ।
जिमि यह कथा सुनायहु मोही ।।
तिमि जनि हरिहि सुनावहु कबहूँ ।
चलेहुँ प्रसंग दुराएहु तबहूँ ।। १/१२७/७-८

इसका अर्थ है कि उन्होंने रोगी को पूरी तरह से स्वस्थ बनाने की चेष्टा की, लेकिन वही समस्या सामने आई –

संभु दीन्ह उपदेस हित नहिं नारदहि सोहान ।
भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान ।। १/१२७

कहीं-न-कही जाकर मानना पड़ता है । शंकरजी ने यही अर्थ लिया । उन्होंने कहा – महाराज, अच्छा हुआ कि आपने

मुझे यह बता दिया। अगर मैं वैद्य होता और रोग दूर कर देता, तब तो नारद को स्वस्थ हो जाना चाहिये था, लेकिन आपने दिखा दिया कि जब तक आपका सहयोग न हो, तब तक मेरा प्रयत्न सफल नहीं होगा। यही सामंजस्य है। इसमें वैद्य का भी महत्व है और भगवत्कृपा की भी आवश्यकता है।

नारद जब भगवान के पास गये, उनकी दशा देखकर भगवान के मन में करुणा उत्पन्न हुई। गीता (२/६२-६३) में एक स्थान पर वह क्रम बताया गया है कि बुराई कैसे आती है और उसका अन्तिम परिणाम क्या होता है? कहा गया है –

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

क्रम यह है – विषय का चिन्तन करने से आसक्ति होती है, उससे कामना उत्पन्न होती है, काम से क्रोध होता है, क्रोध से सम्मोह होता है, मोह से स्मृति-विभ्रम होता है, स्मृति-विभ्रम से बुद्धिनाश होता है और बुद्धिनाश होने पर सर्वनाश हो जाता है। अब आप मिलाकर देखिए। नारद के जीवन में वह सब आ गया, पर उनका सर्वनाश नहीं हुआ, उसमें गीता का दूसरा श्लोक जुड़ गया। भगवान ने एक अनोखा वाक्य कहा है –

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। ९/३०

एक व्यक्ति जिसमें दोष है, तो भी यदि अनन्य भाव से मेरा भजन करता है, तो – **साधुरेव स मन्तव्यः** – उसे बुरा नहीं, बल्कि साधु ही समझना। – महाराज, ऐसा क्यों? – इसलिये कि वह – **सम्यग्व्यवसितो हि सः** – उत्तम निश्चयवाला है।

जैसे एक नन्हा बालक कीचड़ में गिरकर गन्दा हो गया है, पर उसकी विशेषता क्या है? गन्दा हो जाने पर वह जाता कहाँ है? सीधे माँ के पास। जब वह देखता है कि और सब लोग तो उसे कीचड़ में सना देखकर हँसते हैं, घृणा करते हैं, यहाँ तक कि पिता भी उसे दूर रहने के लिये कहते हैं। वह माँ के पास जाता है, यह उसकी बाध्यता भी है और माँ से अधिक उसका अपना कोई है भी नहीं। इसीलिए तो धूल-कीचड़ से सना गन्दा बालक जब अपनी माँ की ओर दौड़ता है, तब माँ क्या करती है? वह तत्काल उसे गोद में उठा लेती है। कहती है – कोई बात नहीं, तुम गन्दे हो गये हो, आओ, मैं तुम्हें स्वच्छ कर देती हूँ, यह तो मेरा काम ही है।

रामायण में बड़ी मधुर बात है। भोजन के समय दशरथजी भोजन करने बैठे और कौशल्याजी राम को बुलाने गईं। राम भाग रहे हैं, कौशल्याजी पीछे पीछे दौड़ रही हैं। सहसा श्रीराम धूल में गिर पड़े। सारे शरीर में धूल लग गया। कौशल्याजी दौड़कर गईं और मुस्कुराते हुए राम को अपनी गोद में उठाकर अपने रेशमी वस्त्र से उनका धूल पोंछ दिया। यह देखकर सबसे अधिक प्रसन्नता किसको हुई? गोस्वामी जी को। श्रीराम ने पूछा – तुम इतने प्रसन्न क्यों हो रहे हो? बोले – महाराज, जब माँ ने आपको इतना प्यार किया कि आपको धूल से सना हुआ देखकर भी नहीं ठिठकीं, पीछे नहीं हटीं, आपसे दुराव नहीं किया, अपितु आपके प्रति उनका प्रेम और भी बढ़ गया और तुरन्त अपनी गोदी में उठाकर अपने वस्त्र से आपके धूल पोंछ दिये। इसी तरह हम जीव भी धूल में लिपटे हुए जब आपके पास आयें, तो आप भी हमारा तिरस्कार न करके, स्नेह और वात्सल्य के साथ गोद में उठा लीजियेगा। कौशल्या अम्बा का वात्सल्य देखकर हमें आशा बँधी कि माँ के हृदय में आपके प्रति इतना वात्सल्य है, तो आप में भी हमारे प्रति अवश्य होगी। भगवान तो गीता में यही कहते हैं कि गन्दगी होने पर भी बालक जब माँ की ओर चल पड़ा, सही दिशा मे चल पड़ा, तो बालक की गन्दगी को धो देना, उसे नहलाकर स्वच्छ कर देना माँ का काम है।

इसी प्रकार नारदजी गन्दगी से लिपट गये, उनमें काम, क्रोध, लोभ सब आ गये, पर अन्त में क्या हुआ? क्या किया उन्होंने, कहाँ गये? चल पड़े भगवान की ओर। तब गीता का वह दूसरा सिद्धान्त, जो भगवान ने कहा है कि जिसने अनन्य भाव से मेरा आश्रय लिया है, उसका भार मैं स्वयं ले लेता हूँ। उसकी गन्दगी साफ करना अब मेरा काम है। जब वह सही दिशा में चल पड़ा, मेरी ओर आ गया, तब – **क्षिप्रं भवति धर्मात्मा** – शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है।

जैसे कोई बालक गन्दा दिखाई दे रहा है और उसकी माँ नहीं है, इसलिए वह सर्वदा गन्दा दिखाई देता है, पर जिस बालक की माँ है, वह बालक क्षण भर में स्वच्छ हो जाता है। उसकी माँ तुरन्त उसे धो-पोंछकर स्वच्छ कर देती है, स्वच्छ वस्त्र पहना देती है। तब वह सुन्दर दिखने लगता है –

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ ९/३१

– वह शीघ्र ही धर्मात्मा होकर चिर शान्ति को पा लेता है। हे अर्जुन, तुम निश्चयपूर्वक जान लो कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।

नारद में एक-एककर सारी बुराइयाँ आ गईं और अन्ततः उनके मन में विवाह की इच्छा उत्पन्न हुई, पर उन्होंने सोचा –

मोरें हित हरि सम नहिं कोऊ।
एहि अवसर सहाय सोइ होऊ॥ १/१३२/२

मेरा हितैषी भगवान से बढ़कर और कोई नहीं है। वे ही हैं जो इस समय मेरी सहायता करेंगे और वे भगवान के पास जा पहुँचे। परिणाम क्या हुआ? भगवान मुस्कुराते हुए नारद के सामने प्रकट हो गये। भगवान के मन में प्रसन्नता किस बात की हुई? यदि कोई पूछे – महाराज, जब नारद जैसे महापुरुष के मन में भी अहंकार आ गया, तो फिर उनकी विशेषता क्या

रही? भगवान ने कहा – बस, एक अन्तर है संसारवालों और नारद में। संसारवालों के मन में अभिमान आयेगा तो वे अपने से किसी छोटे को ढूँढ़ेंगे, काम आयेगा तो संसार में किसी सौन्दर्य की ओर बढ़ेंगे, क्रोध आयेगा तो जिस पर अपना क्रोध दिखा सकें ऐसे व्यक्ति को ढूँढ़ेंगे; पर धन्य है नारद, उसमें अभिमान आया, काम आया, क्रोध आया तो वह सीधे मेरे पास चला आया। भगवान को यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि नारद यद्यपि बुराइयो से घिर गया है, पर सब कुछ लेकर मेरे पास चला आ रहा है। छोटे बालक की गन्दगी धोना जैसे माँ का भार है, वैसे ही भगवान कहते हैं कि कोई बात नहीं है, आ जाओ और वे नारद की बुराइयों को तो दूर कर ही देते हैं, पर साथ मे कहते है – नारद, तुम्हारे इस बुराई के द्वारा भी समाज का कल्याण ही हुआ। कैसे? बोले – तुमने क्रोध में आकर मुझे श्राप दिया कि मुझे मनुष्य बनना पड़ेगा; इस प्रकार तुमने ईश्वर को मनुष्य बनाया।

अभिप्राय है कि सन्त ने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी कि ईश्वर मनुष्य के रूप में जन्म लें और जो समस्याएँ मनुष्य के सामने आती हैं, उन समस्याओं को स्वीकार करें। भगवान राम, भगवान कृष्ण या किसी भी अवतार और सन्तों के जीवन को देखिए, तो आपको किसी का जीवन ऐसा नहीं मिलेगा, जिसमे कोई समस्या न आई हो; रोग, शोक, प्रतिकूलता के अवसर न आए हों। कहा जाता है कि भगवान के दिव्य लोक में दुःख और अन्धकार का प्रवेश नहीं है। उस लोक में बैठकर भगवान अगर जीव को आदेश दे कि तुम ऐसे बनो, तो उसकी कोई सार्थकता नहीं है। भगवान स्वयं हमारे बीच आये और इन समस्याओं को स्वयं स्वीकार करें, उसको झेलें और उसका जो समाधान है, पार जाने का जो मार्ग है, उसे प्रस्तुत करें। इसका अभिप्राय यह है कि एक व्यक्ति तो वह है जो किसी से यह कह दे कि तुम समुद्र को पार करो और वह पार कर ले, तब तो वह बड़ा वीर है। पर ऐसे वीर बहुत कम हैं, जो समुद्र को पार कर सकें। किन्तु कोई ऐसा व्यक्ति, जो उस भयंकर समुद्र के ऊपर पुल का निर्माण कर दे और यह कहे कि अब इस समुद्र को पार कर लो, तो उनका ऐसा कहना बड़ा सार्थक है। जब उन्होंने समुद्र के ऊपर पुल का निर्माण कर दिया, हमारे लिये मार्ग बना दिया, बता दिया कि कैसे पार करना है और कह दिया कि पार करो, तो बड़ी सार्थक बात हुई। उसके बाद भी हम न पार करें, तो यह हमारी भूल है। तब हम उनको दोष नही दे सकेंगे।

ईश्वर जब मनुष्य बनते हैं, तो क्या करते हैं? ईश्वर को मनुष्य बनने की क्या आवश्यकता है? ईश्वर समुद्र तो बनाते है, संसार समुद्र है, जब ईश्वर इस भवसागर में अवतार लेते है, तब वे क्या करते हैं? वही सूत्र जो अभी मैं आपसे कह रहा था। नारद ने उन्हें शाप दे दिया कि मनुष्य के रूप में आपका जन्म होगा, आपको पत्नी-वियोग होगा, बन्दर आपकी सहायता करेंगे। सारी समस्याएँ नारदजी ने भगवान के सामने खड़ी कर दी। उन्होंने कहा कि जब आप हमारे बीच आएँगे, तब हमारी समस्याओं को देखेंगे और सुलझाएँगे। ईश्वर के रूप में समुद्र बनाते हैं और मनुष्य के रूप में? –

सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानुकुल केतु।
चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु ।। २/८७

इस भवसागर पर सेतु बना देते हैं। मानो भगवान कहते हैं – भई, मैंने समुद्र ही नहीं बनाया, सेतु भी बना दिया। केवल समुद्र ही बनाया होता, तो तुम उलाहना दे सकते थे कि आपने समुद्र बनाकर हमें चक्कर में डाल दिया, पर समुद्र के साथ ही मैंने पुल भी बना दिया। अब तुम उलाहना देने के अधिकारी नहीं रह गये। इसलिए यह जो मनुष्य के रूप में भगवान का अवतरण है, उसमें मनुष्य की समस्याओं की स्वीकृति है।

जब हरि माया दूरि निवारी।
नहिं तहँ रमा न राजकुमारी ।।
तब मुनि अति सभीत हरि चरना।
गहे पाहि प्रनतारति हरना ।। १/१३८/१-२

भगवान ने ज्यों ही नारद के रोगों को दूर कर दिया, वे भगवान के चरणों में गिर पड़े और कहने लगे, हाय हाय, मैंने कितने कठोर शब्द कह दिये। भगवान खूब हँसे। बोले – भई, एक ही बात को यदि बार बार कही जाय, तो पुनरावृत्ति में वह आनन्द नहीं रह जाता। आज ही तो मुझे सबसे अधिक आनन्द आया। तुम नित्य जो मेरी स्तुति किया करते थे, वह एक प्रकार की होती थी, पर आज जो तुमने स्तुति की, वह नये प्रकार की थी। नारदजी ने भगवान से कहा था –

स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह
सदा कपट व्यवहारु ।। १/१३६

– तुम पक्के स्वार्थी हो, बड़े कुटिल हो। भगवान ने कहा – यह विशेषण तो कभी सुनने को नहीं मिला था। नारदजी ने कहा, प्रभु, मेरा शाप झूठा हो जाय –

मृषा होउ मम श्राप कृपाला।

भगवान बोले – न न , ऐसी भूल कभी न करना। तुम बनी-बनाई बात को बिगाड़ क्यों रहे हो?

मम इच्छा कह दीनदयाला ।। १/१३८/३

– नारद, इसके पीछे मेरी ही इच्छा है और अन्त में इसी के द्वारा संसार का हित होगा। नारद बोले – पर महाराज, मुझसे तो बड़ा पाप हो गया, इसका प्रायश्चित्त क्या है? भगवान ने उन्हें जोड़ दिया वैद्य से। उन्होंने कहा – तुमने मेरा तो कोई अपराध किया नहीं, लेकिन अगर तुम शान्ति चाहते हो, तो –

जपहु जाइ शंकर सत नामा। १/१३८/५

– शंकरजी के नाम का जप करो । इसका अभिप्राय यह है कि तुम सद्गुरु का आश्रय लो, भक्ति का सेवन करो, जो पद्धति है, वही करो । दोनों को, साधना और कृपा को जोड़ दिया ।

भगवान शंकर जैसा वैद्य इतनी श्रेष्ठ दवा रखकर भी जब तक उसमे हरि-इच्छा का संयोग नहीं जुड़ता, तब तक वे नारदजी को स्वस्थ करने में समर्थ नहीं होते । इतना ही नही, भगवान राम ने शंकरजी से पूछा कि आप तो संसार के सबसे बड़े वैद्य हैं, जब सतीजी को सन्देह हो गया, तब आपने क्या किया? शंकरजी ने मुस्कुराकर कहा – महाराज, मैं उनका रोग दूर कर पाया या न कर पाया, पर मेरा रोग आपने अवश्य दूर कर दिया । आपका रोग क्या था? उन्होंने कहा कि जब मैंने सुना कि आपका अवतार हो गया है और आप दण्डकारण्य में आए हुए हैं, तो मेरी आँखों ने कहा कि चलकर दर्शन कर लीजिए । जब दर्शन करने लगा, तो मेरे मन में जाने कहाँ से एक बड़ी विचित्र बात आ गई कि अगर मैं आपके निकट जाकर प्रणाम करूँगा तो –

गएँ जान सबु कोइ ।। १/४८(क)

मुझे प्रणाम करते देखकर संसार के सब लोग जान जाएँगे कि श्रीराम ईश्वर हैं, इसलिए इस समय मेरा निकट जाकर प्रणाम करना ठीक नहीं है । महाराज, जब मैंने ऐसा सोचा, तब स्वयं को इतना महत्व दिया कि मैं जब प्रणाम करूँगा, तब किसी को सन्देह रह ही नहीं जाएगा । सो आपने मेरा रोग दूर कर दिया । कैसे? बोले – जब सती के सामने मैंने आपको प्रणाम किया और सती को सन्देह हुआ, तब इस घटना के द्वारा मानो आपने बता कि तुम्हारे प्रणाम करने के बाद तुम्हारी पत्नी तक तो समझ नहीं पाई, तो भला संसार क्या समझेगा । महाराज – सन्देह हुआ भी, तो हमारे ही परिवार में । सन्देह हुआ या तो मेरे चेले रावण को या मेरी पत्नी को । अपनी पत्नी तथा चेले को ही जब मैं नहीं बदल सका, तो औरों को क्या बदलूँगा? यही 'मानस' का सन्तुलन है । शंकर-पार्वती के विवाह प्रसंग में कहा गया है –

कह मुनीस हिमवंत सुनु जो बिधि लिखा लिलार ।
देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार ।। १/६८

– मुनि बोले – "हे हिमवान, सुनो, विधाता ने ललाट पर जो भी लिख दिया है, उसे देव, दानव, मनुष्य, नाग और मुनि कोई भी नहीं मिटा सकता ।" एक ओर यह नियति और भावी की प्रबलता है, लेकिन दूसरा पक्ष भी दे दिया गया –

जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी ।
भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारि ।। १/७०/५

यह रोग और वैद्य, भावी और भावी को मिटा सकनेवाले शंकरजी । लेकिन जब सती पर संकट आया और शंकरजी उस संकट को दूर नहीं कर पाये, तो कहा गया – महाराज, आप संसार में सबकी भावी को बदल सकते हैं, पर अपनी पत्नी की भावी को नहीं बदल पाए, यह क्या हुआ? शंकरजी ने तुरन्त हाथ जोड़कर कहा –

हरि इच्छा भावी बलवाना । १/५५/६

जब उनकी इच्छा वैसी हो गई, तो मैं क्या करूँ? सम्भव है इस प्रकार से सती के माध्यम से संसार के समक्ष एक दृष्टान्त रखने की इच्छा रही हो ।

इसके बाद बड़ी सांकेतिक भाषा आती है । अन्त में सती देह त्याग देती हैं । यही क्रम है । दक्ष के यज्ञ में भगवान का स्मरण करते हुए सती अपना शरीर त्याग देती हैं और –

सतीं मरत हरि सन बरु मागा ।
जनम जनम सिव पद अनुरागा ।। १/६५/५

भगवान से वर माँगती हैं कि जन्म-जन्मान्तर तक भगवान शंकर के चरणों में मेरी प्रीति हो । आप कृपाकर मुझे यह वरदान दीजिए । भगवान की कृपा जुड़ गई । सती पार्वती बन गई । रामायण में अलग अलग क्रम है । कर्म के सन्दर्भ में भी कृपा का महत्व है और ज्ञान के सन्दर्भ मे भी । और भक्ति के सन्दर्भ में तो कहना ही क्या? लेकिन कृपा का रूप सबमें अलग अलग है । ज्ञान तो विशेष रूप से पुरुषार्थ का मार्ग है । लेकिन ज्ञान मिलेगा कैसे? कहा गया –

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम् । गीता, ४/३९

श्रद्धावान को ज्ञान प्राप्त होता है । यहाँ तक तो ठीक है कि श्रद्धा से ज्ञान प्राप्त होता है, पर यह श्रद्धा कैसे प्राप्त होगी? गोस्वामीजी ने कहा –

सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई ।
जौं हरि कृपाँ हृदयँ बस आई ।। ७/११७(क)/९

सब लोगों को तो श्रद्धा हो नही जाती, इसलिए अन्त में कहना पड़ता है कि श्रद्धा से ज्ञान प्राप्त होता है, पर श्रद्धा तो अन्ततः भगवान की कृपा से ही मिलेगी न! यहाँ पर सती के सन्दर्भ में भी वही समस्या थी । वैद्य भी श्रेष्ठतम थे भगवान शंकर, उनके पास दवा भी श्रेष्ठतम थी, सब कुछ था, पर बीच की वह एक कड़ी छूट गई थी – श्रद्धा की । सतीजी के जीवन में श्रद्धा का अभाव था । आगे चलकर सती जब पार्वती के रूप में जन्म लेती हैं, तब वे मूर्तिमती श्रद्धा के रूप में परिणत होकर आती हैं । शंकरजी के वचनों पर उनको विश्वास है । भगवान शंकर से श्रद्धापूर्वक कथा सुनती हैं । उनके अन्तःकरण में कोई संशय उत्पन्न नहीं होता । यही समन्वय सूत्र है । भगवान की कृपा से हमारे अन्तःकरण मे श्रद्धा और विश्वास की वृत्ति का उदय होता है, तब सद्गुरु के बताए हुए मार्ग पर हम चलते हैं और हमारे जीवन के रोग-दोष दूर होते हैं । इसलिए ईश्वर और गुरु के, कृपा और साधना के सामंजस्य से ही रोग दूर हो सकता है । ❖ (क्रमशः) ❖

माँ के सान्निध्य में (५८)

योगेन माँ

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदा देवी का जीवन दैवी-मातृत्व का जीवन्त-विग्रह था। उनके प्रेरणादायी वार्तालापों के संकलन रूप मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' से रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के स्वामी निखिलात्मानन्द जी द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद हम अनेक वर्षों से प्रकाशित कर रहे हैं। इसी बीच अब तक प्रकाशित अधिकांश अंशों का 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशन भी हो चुका है। प्रस्तुत है पूर्वोक्त ग्रन्थ के प्रथम भाग से आगे के अप्रकाशित अंशों का अनुवाद। – सं.)

श्रीरामकृष्ण से परिचित होने के कुछ दिनों बाद एक दिन मै दक्षिणेश्वर गई थी। जल्दबाजी में मैं बिना भोजन किये चली गई थी। ठाकुर यह सुनकर बोले, "अहा, तुमने खाया नहीं! नौबतखाने मे जाओ, वहाँ सब्जी-भात है, खा लो।" नौबत में माँ के साथ पहली बार भेंट हुई। राम की माँ आदि पहले भी दो-एक बार माँ से मिल चुकी थीं। उन लोगों ने माँ से कहा कि मैं खाकर नहीं आई हूँ। माँ ने तत्काल शीघ्रतापूर्वक सब्जी, भात, पूरी आदि जो भी था, मुझे खाने को दिया। उस प्रथम भेंट से ही माँ के साथ मेरी बड़ी घनिष्ठता हो गयी। इसके बाद रामलाल दादा के विवाह के समय माँ जिस दिन गाँव जानेवाली थीं, उसी दिन मैं दक्षिणेश्वर गई थी। काफी दिनों तक माँ से भेंट नही हो सकेगी, यह सोचकर मेरे मन में बड़ा कष्ट हो रहा था। निकलते समय माँ ठाकुर को प्रणाम करने आई। उत्तर की ओर के बरामदे में ठाकुर के आकर खड़े हो जाने पर माँ ने उन्हें प्रणाम किया, चरणधूलि ली। ठाकुर बोले, "सावधानीपूर्वक जाना। नाव या रेलगाड़ी में कुछ छोड़ मत जाना।" माँ तथा ठाकुर को मैंने उसी समय एक साथ देखा था। उन्हें एकत्र देखने की मेरी बड़ी इच्छा थी।

माँ नाव मे बैठकर प्रस्थान किया। जहाँ तक दिखाई दिया, मैं नाव की ओर ही देखती रही। नाव के अदृश्य हो जाने पर, माँ नौबतखाने के जिस स्थान पर बैठकर ध्यान किया करती थी, वहीं बैठकर खूब रोने लगीं। नौबतखाने के पश्चिमी ओर के बरामदे मे माँ दक्षिण की ओर मुख करके ध्यान किया करती थी। उधर आते समय ठाकुर को मेरे रोने की आवाज सुनाई दी। अपने कमरे मे जाकर उन्होंने मुझे बुला भेजा, "उसके चले जाने से तुम्हें बड़ा दुःख हुआ है?" यह कहकर उन्होने मानो मुझे भुलाने के लिए दक्षिणेश्वर में उन्होंने जो समस्त साधनाएँ की थी, उन्ही के बारे में बताने लगे। फिर बोले, "यह सब किसी से कहना मत।" महिला होने के कारण अब तक मुझे बड़ा संकोच होता था, परन्तु उस दिन ठाकुर के बहुत निकट बैठकर बातचीत हुई थी।

लगभग डेढ़ वर्ष बाद माँ दक्षिणेश्वर लौट आईं। ठाकुर ने लिखा था, "मुझे खाने-पीने में बड़ा कष्ट हो रहा है।" माँ के आने पर ठाकुर ने उनसे कहा था, "वह जो बड़ी बड़ी आँखोवाली औरत आती है न, वह तुम्हें बड़ा चाहती है। तुम्हारे जानेवाले दिन वह नौबतखाने में बैठकर खूब रोई थी।" माँ बोलीं, "हाँ, उसका नाम योगेन है।" मैं जब भी दक्षिणेश्वर जाती, तो माँ मुझे सारी बातें कहतीं और मेरी सलाह पूछतीं। मैं माँ के केश बाँध देती। मेरे हाथ से केश बँधवाना माँ को इतना पसन्द था कि वे तीन-चार दिन बाद भी स्नान के समय सिर के बाल नही खोलती थी; कहतीं, "नहीं, यह योगेन के बाँधे हुए केश हैं, जिस दिन वह आयेगी उसी दिन खोलूँगी।" मैं सात-आठ दिन के अन्तर से ठाकुर के पास जाया करती थी। दक्षिणेश्वर से मैं शिवपूजा के लिये बेलपत्र ले आती थी। उन बेलपत्रों के सूख जाने पर भी मैं उन्हीं से शिवपूजा करती थीं। एक दिन माँ ने पूछा, "योगेन, तुम सूखे बेलपत्रों से पूजा करती हो क्या?"

"हाँ माँ, तुमको कैसे पता चला?"

"आज सुबह ध्यान करते समय मैंने देखा कि तुम सूखे बेलपत्रों से पूजा कर रही हो।"

एक दिन माँ नौबतखाने में बैठी पान लगा रही थीं। मैंने पास में बैठकर देखा कि माँ ने कुछ पान इलायची डालकर अच्छी तरह सजाया और कुछ को केवल चूना-सुपारी डालकर सजाया। मैंने कहा, "क्यों, इनमें तो मसाला-इलायची नहीं डाला? ये किसके लिये है और वे किसके लिये हैं?"

माँ बोलीं, "योगेन, ये (अच्छेवाले) भक्तों के लिये हैं, उन्हें स्नेह-प्रेम देकर मुझे अपना बना लेना है न! और ये (साधारण) उनके (ठाकुर) के लिये हैं, वे तो अपने हैं ही!"

माँ अच्छा गा लेती थीं। एक दिन रात के समय लक्ष्मी दीदी और माँ मृदु कण्ठ से गा रही थीं। गीत अच्छा जम गया था। ठाकुर ने भी उसे सुन लिया। अगले दिन वे बोले, "कल तुम लोगों का खूब गाना हो रहा था। अच्छा हुआ, बहुत अच्छा हुआ।"

दक्षिणेश्वर में माँ को सारे दिन जरा-सा भी विश्राम का समय नहीं मिल पाता था। भक्तों के लिये वे तीन-साढ़े तीन सेर आटे की रोटियाँ बनाती थीं। बहुत-से पान भी लगाया करती थीं। इसके बाद वे ठाकुर के लिये दूध को उबालकर खूब गाढ़ा कर लेती थी, क्योंकि ठाकुर को मलाई पसन्द थी। उनके लिये रसेदार सब्जी बनती थी। ठाकुर की माँ जब तक जीवित रहीं, तब तक वे नौबतखाने में ही भोजन किया करते

थे। उनके देहावसान के बाद वे अपने ही कमरे में खाया करते थे। युवा भक्तों के न रहने पर ठाकुर के स्नान के समय माँ आकर उनके शरीर में तेल लगा दिया करती थीं। एक दिन गोलाप दीदी के आने पर ठाकुर ने उनसे भोजन की थाली ले आने को कहा। तभी से गोलाप दीदी प्रतिदिन ही उनका भोजन ले जाया करती थी। भोजन कराते समय माँ प्रतिदिन एक बार ठाकुर को देख पाती थीं, परन्तु अब वह भी बन्द हो गया। गोलाप दीदी शाम को काफी समय तक ठाकुर के पास रहती; कभी कभी तो वह रात को दस बजे नौबत में लौटती। माँ को नौबत के बरामदे मे गोलाप दीदी का खाना लेकर बैठे रहना पड़ता, इस कारण उन्हें थोड़ी असुविधा होती थी। एक दिन ठाकुर ने सुना, माँ कह रही थीं, "(तुम्हारा) भोजन कुत्ते-बिल्ली खाएँ तो खाएँ, मैं और रखवाली नही कर सकूँगी।" अगले दिन ठाकुर गोलाप दीदी से बोले, "तुम इतनी देर तक रहती हो, उसे कष्ट होता है। उसे भोजन लेकर बैठे रहना पड़ता है।" गोलाप दीदी ने कहा, "नहीं, माँ मुझसे बड़ा प्रेम करती हैं, पुत्री के समान नाम लेकर पुकारती हैं।" गोलाप दीदी के कारण ठाकुर के पास आने का सुयोग बन्द हो जाने से माँ दु:खी थीं, यह बात गोलाप दीदी भले ही न समझ सकी हो, पर ठाकुर समझ गये थे।

एक दिन गोलाप दीदी ने माँ से कहा था, "माँ, मनोमोहन की माँ कह रही थी कि वे इतने बड़े त्यागी हैं और माँ कानों में बाले आदि इतने गहने पहनती है, यह क्या अच्छा दिखाई देता है?"

अगले दिन सुबह दक्षिणेश्वर जाकर मैंने देखा कि माँ ने केवल हाथ में सोने की छह चूड़ियाँ छोड़कर बाकी सारे गहने उतार दिये है।

मैंने थोड़ा विस्मित होकर पूछा, "माँ, यह क्या है?"

माँ बोलीं, "गोलाप ने कहा ...।"

मेरे बहुत समझाने के बाद ही माँ ने बाले तथा एक-दो अन्य साधारण गहने पहन लिये। तभी से गहने जो उतरे तो फिर वे पहने नहीं गये। क्योंकि इसके बाद से ही ठाकुर की बीमारी आरम्भ हो गई थी।

माँ जब पहली बार दक्षिणेश्वर आईं, तब वे संसार के विषय में ज्यादा कुछ समझती नहीं थीं और उन्हें भाव आदि भी नहीं होता था। निष्ठापूर्वक प्रतिदिन भगवान का जप-ध्यान करने पर भी उनके भाव-समाधि होने की बात हमारे सुनने में नही आई। बल्कि ठाकुर को भाव होते देखने पर माँ बड़ी भयभीत और चिन्तित हो जाती थीं। क्योंकि मैंने माँ के मुख से ही सुना है – दक्षिणेश्वर में माँ जब पहली बार आई, तो ठाकुर रात में उन्हें अपने पास ही रखते। तब माँ और ठाकुर एक ही कमरे में सोते, ठाकुर बड़े तख्ते पर और माँ छोटी खाट पर। माँ कहती थीं, "सारी रात ठाकुर को भाव हुआ करता था, उसी को देखकर मुझे नींद नहीं आती थी। भय के कारण मैं जड़ हो जाती थी, सोचती कि रात कब समाप्त हो। एक दिन उनका भाव दूर नहीं हो रहा था। तब परेशान होकर मैंने काली की माँ (नौकरानी) को भेजकर हृदय को बुला भेजा। उसके आकर नाम सुनाने पर ही उनका भाव दूर हुआ। अगले दिन ठाकुर ने मुझे सब सीखा दिया कि किस प्रकार का भाव देखने पर कौन-सा मंत्र सुनाना होगा।"

मेरे साथ माँ का परिचय होने के कुछ काल बाद एक दिन माँ ने मुझसे कहा, "उनसे कहो कि मुझे भी थोड़ा भाव आदि हो, लोगों की भीड़ के कारण मुझे उनसे यह कहने का अवसर ही नहीं मिलता।"

मैंने सोचा कि ठीक ही तो है; माँ जब अनुरोध कर रही हैं, तो ठाकुर से यह बात कह दूँगी। अगले दिन सुबह ठाकुर को अकेले तख्त पर बैठे देखकर मैने प्रणाम करके उनसे माँ की बात कही। उन्होंने उसे सुना, परन्तु कोई उत्तर न देकर गम्भीर बैठे रहे। जब वे इस प्रकार गम्भीर रहते, तब किसी को उनसे बोलने का साहस नहीं होता था। इसीलिए थोड़ी देर तक मैं चुपचाप बैठी रहने के बाद उन्हें प्रणाम करके लौट आई। नौबतखाने में आकर मैंने देखा कि माँ पूजा कर रही हैं। दरवाजा थोड़ा-सा खोलकर देखा कि वे खूब हँस रही हैं। कभी हँस रही है, तो थोड़ी देर बाद ही रो रही हैं। उनके दोनों नेत्रों से निरन्तर अश्रुपात हो रहा है। थोड़ी देर तक इसी भाव में रहने के बाद वे क्रमश: स्थिर – पूरी तौर से समाधिमग्न हो गई। यह देखकर मैं द्वार बन्द करके चली आई। काफी देर बाद पुन: जाने पर माँ बोलीं, "अभी (ठाकुर के पास से) आ रही हो?" तब मैंने कहा, "तो माँ, तुम्हें क्या भाव नही होता?" इस पर माँ लज्जित होकर हँसने लगीं। इस घटना के बाद मैं कभी कभी रात के समय भी दक्षिणेश्वर में माँ के पास रहा करती थी। मेरे अलग सोने की इच्छा करने पर भी माँ बिल्कुल नहीं सुनतीं, मुझे खीचकर अपने पास सुलातीं। एक रात कोई बाँसुरी बजा रहा था। बाँसुरी सुनकर माँ को भाव हो गया और वे रह-रहकर हँसने लगीं। मैं संकोचपूर्वक बिस्तर के एक किनारे बैठी रही। सोचा कि मैं संसारी जीव हूँ, इस समय उनका स्पर्श नहीं करूँगी। काफी देर के बाद माँ का भाव दूर हुआ।

एक दिन बलराम बाबू के मकान की छत पर बैठकर ध्यान करते समय माँ समाधिस्थ हो गई थीं। सामान्य अवस्था में लौटने पर बोलीं, "देखा, कहाँ चली गई हूँ! वहाँ सभी लोग मेरा कितना स्नेह-यत्न कर रहे थे! मेरा बड़ा ही सुन्दर रूप हो गया है! वहाँ ठाकुर हैं। उनकी बगल में मुझे स्नेहपूर्वक बैठाया गया। जो आनन्द हुआ, उसे कहकर नहीं बता

सकती! थोड़ा होश आने पर देखा कि शरीर पड़ा हुआ है। तब मैं सोचने लगी कि किस प्रकार इस निकृष्ट शरीर के भीतर प्रवेश करूँ। उसमें घुसने की बिल्कुल भी इच्छा नहीं हो रही थी। काफी देर बाद ही उसमें मैं प्रविष्ट हो सकी और तब देह में चेतना आई।''

एक दिन बेलूड़ के नीलाम्बर बाबू के मकान में सन्ध्या के बाद माँ, मैं और गोलाप दीदी छत पर एक साथ बैठकर ध्यान कर रही थीं। मेरा ध्यान पूरा हो जाने पर मैंने देखा कि माँ तब भी पूरी तौर से भाव में समाधिस्थ होकर स्पन्दनहीन बैठी हुई हैं। काफी देर बाद चेतना लौटने पर माँ कहने लगीं, ''ओ योगेन, मेरे हाथ कहाँ हैं, पाँव कहाँ हैं?'' हम लोगों ने माँ के हाथ-पॉव दबाकर दिखाया – यह पाँव है, यह हाथ है; तो भी माँ को देहबोध आने में काफी समय लगा।

वृन्दावन में कालाबाबू के कुंज में एक दिन सुबह ध्यान करते समय माँ को समाधि हुई। समाधि कैसे भी भंग नहीं हो रही थी। आखिरकार स्वामी योगानन्द ने आकर नाम सुनाया, तब थोड़ा-सा समाधि-भाव कम होने पर जैसे ठाकुर समाधि-भंग के समय कहा करते थे, वैसे ही माँ ने कहा, ''खाऊँगी।'' कुछ भोजन, जल और पान सामने रखे जाने पर उन्होंने ठाकुर की तरह ही उसमें से थोड़ा थोड़ा खाया। पान भी, ठाकुर जैसे उसके नुकीला भाग दाँत से काटकर फेंक देने के बाद खाते थे, माँ ने भी ठीक वैसा ही किया। उस समय उनकी भाव-भंगिमा, खाना-पीना आदि सब कुछ बिल्कुल ठाकुर के समान ही हो गया था। हम लोग यह देखकर अवाक् रह गईं। भाव का पूरी तरह उपशम हो जाने के बाद माँ ने कहा था कि उनके ऊपर उस समय ठाकुर का आवेश हुआ था। माँ की उस भावावस्था के समय स्वामी योगानन्द द्वारा कुछ प्रश्न करने पर ठाकुर जैसा उत्तर दिया करते थे, उन्होंने भी ठीक वैसा ही उत्तर दिया था।

ठाकुर के देहत्याग के कुछ दिन बाद ही रामदत्त आदि गृही भक्तों ने काशीपुर के उद्यान भवन का भाड़ा चुकाकर उसे खाली कर देने का संकल्प किया और इसीलिए माँ को बलराम बाबू के घर लाया गया। इसके बाद माँ ने तीर्थदर्शन की इच्छा से योगीन महाराज, काली महाराज, लाटू महाराज, लक्ष्मी दीदी आदि के साथ वाराणसी गईं। वहाँ आठ-दस दिन निवास करने के बाद वे वृन्दावन जाकर लगभग एक वर्ष कालाबाबू के कुंज में रहीं। ठाकुर के देहावसान के दो-एक सप्ताह पूर्व मैं वृन्दावन गई थी। वृन्दावन में मेरे साथ भेंट होते ही माँ शोक के आवेग में ''अरी योगेन'' कहकर मुझे सीने से जकड़ लिया और अधीर होकर रोने लगी। ठाकुर के देहत्याग के बाद मेरी उनके साथ यह पहली भेंट थी। वृन्दावन में माँ शुरू शुरू में खूब रोया करती थीं। एक दिन ठाकुर ने मुझे दर्शन देकर कहा, ''क्यों जी, तुम लोग इतना रो क्यों रही हो? मैं यहीं तो हूँ, गया कहाँ हूँ? यह तो मानो एक कमरे से दूसरे में जाना हुआ है।''

वृन्दावन में रहते समय एक दिन पत्र-पुष्प आदि से सजाकर, कीर्तन करते हुए एक शव को ले जाया जा रहा था। माँ उसे देखकर बोलीं, ''देखो, देखो, इस मनुष्य को किस प्रकार वृन्दावन प्राप्त हुआ है! हम तो यहाँ शरीर छोड़ने आई हैं, परन्तु किसी दिन जरा-सा बुखार भी नहीं हुआ! इधर कितनी उम्र हो गई है! हमने बाप को देखा है, जेठ को देखा है।'' हम लोग सुनकर हँसने लगीं और बोलीं, ''कहती क्या हो माँ? तुमने बाप को देखा है! बाप को भला कौन नहीं देखता?'' उन दिनों माँ इसी प्रकार बच्चों के समान बातें करतीं। पहले पहल जैसे वे ठाकुर के लिये खूब रोया करती थीं, परन्तु बाद में ठाकुर ने उन्हें वैसे ही आनन्द से परिपूर्ण करके रखा था। उन दिनों देखने में माँ एक बालिका जैसी प्रतीत होती थीं। प्रतिदिन घूम-घूमकर मन्दिरों में दर्शन किया करती थीं। एक दिन राधारमण का दर्शन करते समय माँ ने देखा – मानो नवगोपाल बाबू की पत्नी राधारमण की बगल में खड़ी होकर उन्हें पंख झल रही है। यह देखकर लौटने के बाद माँ ने मुझसे कहा, ''योगेन, नवगोपाल की पत्नी बड़ी पवित्र है। मैंने ऐसा देखा।''

वृन्दावन में एक दिन ठाकुर ने माँ को दर्शन देकर कहा था, ''तुम योगीन (स्वामी योगानन्द) को यह मंत्र दो।'' पहले दिन माँ ने उस दर्शन को मस्तिष्क का भ्रम समझा था। दूसरे दिन भी वैसा ही होने पर उन्होंने उस पर ध्यान नहीं दिया। तीसरे दिन पुन: वही दर्शन होने पर माँ ने ठाकुर से कहा, ''मैं तो उसके साथ बातचीत तक नहीं करती, फिर मंत्र कैसे दूँ?''

ठाकुर बोले, ''तुम बेटी-योगेन (मुझ) से कहना, वह पास रहेगी।''

माँ ने मेरे द्वारा स्वामी योगानन्द से पुछवाया कि उनकी मंत्रदीक्षा हुई है या नहीं? योगानन्दजी ने कहा, ''नहीं, माँ, ठाकुर ने मुझे कोई विशेष इष्टमंत्र नहीं दिया है। मैं अपनी रुचि के अनुसार एक नाम जपता हूँ।'' यह जानने के बाद माँ ने एक दिन उन्हें मंत्र दिया। ठाकुर का चित्र और उनके देहावशेष के पात्र को सामने रखकर माँ पूजा कर रही थीं। उन्होंने योगानन्दजी को बुलवाकर बैठने को कहा। पूजा करते करते माँ को भावावेश हो गया। उस भावावेश में ही उन्होंने मंत्र दिया। मंत्र उन्होंने इतने जोर से कहा कि बगल के कमरे में बैठी हुई मुझे भी सुनाई दिया।

वृन्दावन से हम सभी लोग माँ के साथ हरिद्वार गए। स्वामी योगानन्द भी साथ में थे। मार्ग में रेलगाड़ी में योगीन महाराज को जोर का बुखार चढ़ गया। मैं उनको अनार खिला

रही थी। माँ ने देखा कि मैं मानो वह ठाकुर को ही खिला रही हूँ। योगीन महाराज ने बुखार में अचेत होकर देखा था – एक भयंकर मूर्ति सामने आकर कह रही है, "तुझे देख लेता, लेकिन क्या करूँ, परमहंसदेव का आदेश है, मुझे अभी चले जाना होगा, एक क्षण भी ठहर नहीं पा रहा हूँ।" उसने लाल किनारी की साड़ी पहने एक स्त्री को दिखाकर कहा, "इस औरत को थोड़े रसगुल्ले खिला देना।" आश्चर्य की बात यह है कि इस दर्शन के बाद ही उनका बुखार चला गया। बाद में हरिद्वार से हम लोग जयपुर गये थे। वहाँ गोविन्दजी का दर्शन करने के बाद अन्य विग्रहों को देखते देखते सहसा एक मन्दिर के पास एक मूर्ति देखते ही स्वामी योगानन्द कह उठे, "इसी मूर्ति को रसगुल्ले खिलाने के लिये कहा था।" फिर सामने ही एक रसगुल्ले की दुकान भी देखने में आई। तब आठ आने के रसगुल्ले खरीदकर उस मूर्ति को भोग दिया गया और पूछने पर पता चला कि वह शीतला माता की मूर्ति है।

इसके बाद माँ कलकत्ते लौट आईं और बलराम बाबू के घर मे कुछ दिन ठहरने के बाद कामारपुकुर चली गईं। वहाँ लगभग एक वर्ष रहने के बाद (१८८८ ई.) भक्तों ने उन्हें लाकर बेलूड़ में नीलाम्बर बाबू के किराये के मकान में लगभग छह महीने रखा था। इसके बाद कार्तिक (अक्तूबर-नवम्बर) मास मे किराये का मकान छोड़कर कलकत्ते में बलराम बाबू के भवन में दो-एक दिन रहने के बाद माँ ने श्रीक्षेत्र (पुरी) के लिये प्रस्थान किया। कलकत्ते से चाँदबाली तक बड़े जहाज में, चाँदबाली से कटक तक कैनाल स्टीमर में और कटक से बैलगाड़ी में पुरी की यात्रा हुई। शरत्, राखाल महाराज, योगानन्द स्वामी आदि भी माँ के साथ पुरी गये थे। पुरी जाकर सबने अग्रहायण (नवम्बर-दिसम्बर) से फाल्गुन (फरवरी-मार्च) तक बलराम बाबू के 'क्षेत्रवासी-मठ' में निवास किया था। सामने के बरामदेवाले कमरे में माँ रहती थीं। ठाकुर ने जगन्नाथ का दर्शन नहीं किया था, इसलिए एक दिन माँ उनके चित्र को वस्त्र से ढँककर ले गईं और उन्हें श्रीजगन्नाथ का दर्शन कराया।

जगन्नाथ का दर्शन करने के बाद माँ ने कहा था, "जगन्नाथजी को देखा – मानो पुरुषसिंह है, रत्नवेदी पर विराजमान हैं और मैं दासी होकर उनकी सेवा कर रही हूँ।" पुरी से लौटकर तीन-चार सप्ताह मास्टर महाशय के घर निवास करने के बाद माँ आँटपुर गईं; उनके साथ बाबूराम, नरेन, मास्टर महाशय, सान्याल तथा और भी लोग थे। वहाँ छह-सात दिन रहने के बाद वे मास्टर महाशय आदि के साथ बैलगाड़ी में तारकेश्वर होते हुए कामारपुकुर गईं। कामारपुकुर में लगभग एक वर्ष रहकर माँ डोल (होली) के पूर्व पुनः कलकत्ते आईं और एक महीने मास्टर महाशय के कम्बुलिया टोला के मकान में निवास किया। इसके बाद बलराम बाबू की अन्तिम बीमारी के समय, उनका देहत्याग होने तक वे बलराम बाबू के मकान में रहीं। इसके बाद १८९० ई. के ज्येष्ठ (मई-जून) से भाद्र (अगस्त-सितम्बर) तक वे बेलूड़-श्मशान के पास स्थित घुसुड़ी के मकान मे रहीं। वहाँ खूनी पेचिश हो जाने के कारण उन्हें वराहनगर के सौरीन्द्र मोहन ठाकुर के किराये के मकान में रखकर उनकी चिकित्सा कराई गई। कुछ दिन वहाँ रहने के बाद वे बलराम बाबू के मकान में आईं और दुर्गापूजा के बाद कामारपुकुर होकर जयरामबाटी गईं।

इसके बाद १८९३ ई. के आषाढ़ (जून-जुलाई) में बेलूड़ के नीलाम्बर बाबू के किराये के मकान में आईं और परवर्ती माघ-फाल्गुन का महीना कैलवार (बिहार) में जाकर वहाँ दो महीने निवास किया। कैलवार से माँ अपनी माता तथा भाइयों के साथ पुनः काशी तथा वृन्दावन गई थीं। वहाँ से लौटने के बाद वे लगभग एक महीने मास्टर महाशय के कोलुटोला के मकान में रही। इसके बाद वे गाँव चली गईं। इसके बाद जब वे गाँव से लौटीं तो बागबाजार में गंगा के तट पर गोदामवाला भवन में पाँच-छह महीने रहीं। इसी मकान में नाग महाशय ने आकर माँ का दर्शन किया था। इसके बाद पुनः गाँव जाकर लगभग डेढ़ वर्ष बाद लौटने के बाद माँ ने गिरीश बाबू के मकान के सामनेवाले घर में निवास किया था। इसी मकान में निवेदिता ने लगभग तीन सप्ताह माँ के साथ निवास किया था। इसके बाद वे गिरीश बाबू के मकान के निकट ही स्थित सोलह नम्बर बोसपाड़ा लेन के भवन मे रहीं, जिसमें निवेदिता ने अपना पहला स्कूल खोला था। इसके बाद वे बागबाजार स्ट्रीट के (रामकृष्ण लेन के सामने के) मकान में आकर रहीं। वहाँ शरत् महाराज निवास करते थे। इसके बाद माँ गाँव चली गईं। पुनः गिरीश बाबू के मकान में दुर्गापूजा के उपलक्ष्य में कलकत्ते आकर वे बलराम बाबू के मकान में ठहरीं। गाँव में मलेरिया से आक्रान्त होकर माँ का शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था। इसके बाद वे फिर गाँव जाकर 'उद्बोधन' का नया मकान बन जाने पर उसी में आईं। इसके बाद कोठार, मद्रास, बंगलोर, रामेश्वर आदि स्थानों का भ्रमण करने के बाद वे 'उद्बोधन' में लौट आईं और थोड़े दिनों बाद गाँव जाकर राधू का विवाह किया। लगभग एक वर्ष बाद वे जयरामबाटी से कलकत्ते आईं। 'उद्बोधन' से माँ कार्तिक (अक्तूबर-नवम्बर, १९१२ ई.) में वाराणसी गईं और लगभग तीन महीने वहाँ बिताकर कलकत्ते लौट आईं।

माँ को बचपन से ही प्रायः भोजन पकाना पड़ता था। उनकी माता जब भी किसी विशेष कारणवश भोजन नहीं पका पातीं, तब माँ ही पकाया करती थीं। वे कहतीं, "मैं पकाती थी, पिताजी भात की हण्डी उतार देते थे।" बाद में सगे-सम्बन्धियों तथा भक्तों की सेवा में ही माँ का समय बीता करता था। ❖(क्रमशः)❖

वेदों का रचना-काल

डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर

(अनेकानेक पुरस्कारों से सम्मानित, वर्तमान काल के महानतम संस्कृत-विद्वानों में अग्रगण्य डॉ. वर्णेकर ने संस्कृत, मराठी, हिन्दी आदि भाषाओं में बहुत-से मूल्यवान ग्रन्थों की रचना की है। उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान तीन खण्डों मे प्रकाशित उनका 'संस्कृत-वाङ्मय-कोष' है। संस्कृत तथा उसके साहित्य के विषय मे उनके लेखमाला की यह चौथी कड़ी है। – सं.)

पाश्चात्य विद्वानों ने अन्यान्य प्रमाणों के आधार पर वेद संहिताओ की रचना का काल निर्धारित करने के जो प्रयास किये वे सर्वथा प्रशंसनीय हैं। परन्तु इस विषय में आज तक विद्वानों में मतैक्य नहीं हो सका है और न आगे चलकर होने की सम्भावना ही है। प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार वेदों के आविर्भाव का काल-निर्णय करना असम्भव माना गया है। इतिहासज्ञों के मतानुसार वेद संसार की आद्य ज्ञानराशि है। उसकी रचनाके विषय में ईसा पूर्व १००० से ७५००० वर्षों तक का काल निर्धारित करनेवाले मतभेद प्रसिद्ध हैं। इस विषय में विद्वानों के मत निम्न प्रकार हैं –

प्रो. मैक्समूलर	ईसा पूर्व १३वीं सदी
प्रो. मैकडोनेल	ईसा पूर्व १३वीं सदी
प्रो. वेबर	ईसा पूर्व १५ से १२वी सदी
प्रो. व्हिटनी	ईसा पूर्व १५ से १२वीं सदी
प्रो. केजी	ईसा पूर्व २०वीं सदी
प्रो. याकोबी	ईसा पूर्व ४५ से ६०वीं सदी
प्रो. लुडविग	ईसा पूर्व ४५ से ६०वी सदी
प्रो. हाग	ईसा पूर्व ४५ से ६०वीं सदी
लोकमान्य तिलक	ईसा पूर्व ४५ से ६०वीं सदी
श्री शंकर पावगी	ईसा पूर्व ७०वीं सदी
श्री ए. सी. दास	ईसा पूर्व २५० से ७५०वीं सदी

वेदकाल के विषय में इन विद्वानों ने अपना मत प्रतिपादन करने के लिये जो विविध युक्तिवाद या तर्क प्रस्तुत किये, उनका सारांश इस प्रकार कहा जा सकता है –

मैक्समूलर का मत

प्रो. मैक्समूलर का कहना है कि बौद्ध धर्म का उद्गम ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया में अर्थात् वैदिक धर्ममतों का विरोध और खण्डन करने के लिये ही हुआ। अर्थात् बौद्ध धर्म के उद्गम (ईसा पूर्व ५००) के पहले सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय निर्माण हो चुका था। वैदिक वाङ्मय से सूत्र, ब्राह्मण और संहिता की रचना का काल प्रो. मैक्समूलर ने सामान्य तर्क के आधार पर इस प्रकार निर्धारित किया है –

सूत्रकाल – ईसा पूर्व ६०० से २०० तक।

ब्राह्मणकाल – ईसा पूर्व ८०० से ६०० तक।

संहिताकाल – ईसा पूर्व १००० से ८०० तक।

मैक्समूलर का कहना है कि चूँकि काव्य-विकास में सामान्यतः दो सौ वर्षों का समय लगता है, इस कारण वैदिक साहित्य का आरम्भ ईसा पूर्व १२०० से १००० वर्षों तक मानना ही उचित होगा।

याकोबी और तिलक का मत

सन् १८९३ में जर्मनी के बॉन शहर में प्रो. याकोबी और महाराष्ट्र के पुणे शहर में लोकमान्य तिलक वेद-काल के विषय में अन्वेषण कर रहे थे। दोनों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं था और दोनों की काल-निर्धारण पद्धति अलग अलग थी, परन्तु दोनों का निष्कर्ष एक समान निकला। उनके सिद्धान्त को संक्षेप इस प्रकार कहा जा सकता है –

ब्राह्मण काल में नक्षत्रों की गणना कृत्तिका से होती थी। वेदों में उन्हें एक ऐसा वर्णन मिला, जिसमें कृत्तिकाओं के उदय काल में 'वासन्ती संक्रान्ति' (वर्नल एक्विनॉक्स) भी हो रही थी। ग्रह गति की गणना के आधार पर इन विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला कि ईसा पूर्व सन् २५०० में कृत्तिका नक्षत्र के उदय काल में 'वासन्ती संक्रान्ति' होना सम्भव है अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थों का रचनाकाल वही होने की सम्भावना है।

वैदिक संहिता में उन्हें एक और ऐसा वर्णन मिला, जिसके अनुसार मृगशिरा नक्षत्र में 'वासन्ती संक्रान्ति' हो रही थी। अयनगति की गणना के अनुसार सृष्टि-चक्र में यह अवस्था ईसा पूर्व सन् ४५०० में हो सकती है। अर्थात् यही संहिता की रचना-काल होने की सम्भावना है।

लोकमान्य तिलक और याकोबी, इन दोनों विद्वानों ने ज्योतिषशास्त्र के आधार पर संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना का समय निर्धारित किया, फिर भी दोनों के प्रतिपादन में अन्तर है। याकोबी ई. पू. ४५०० से २५०० तक संहिता काल मानते हैं और इस काल के उत्तरार्ध में संहिताओं की रचनाकाल मानते हैं, जबकि लोकमान्य तिलक ई. पू. ४५०० से २५०० वर्ष पीछे जाकर, ई. पू. ६००० में संहिता की रचना मानते हैं। वेदकाल निर्धारण में पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों के दृष्टिकोण मे कैसा भेद था, एक उदाहरण के द्वारा इसकी ठीक धारणा की जा सकती है।

विंटरनिट्ज का मत

विंटरनिट्ज ज्योतिष तथा भूगर्भ-शास्त्र के आधार पर वेदों का काल ई. पू. ६००० अथवा २५०० मानना उचित नहीं

समझते । वे ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर (पाणिनि द्वारा अपने व्याकरण में निर्धारित की हुई) संस्कृत भाषा तथा अशोक के शिलालेखों की (ई. स. ३००) भाषा, इन दोनों वैदिक भाषा से साम्य को ध्यान में रखकर ऋग्वेद का समय इसी याकोबी और तिलक द्वारा निर्धारित कालखण्ड में सम्भवनीय मानते हैं।

शिलालेखों का अध्ययन करनेवाले विद्वानों ने यह मत प्रतिपादित किया है कि ई. पू. ३०० तक दक्षिण भारत में आर्यो का तथाकथित ब्राह्मण धर्म दृढ़मूल हो चुका था । बौधायन और आपस्तम्ब आदि वैदिक शाखाओं का प्रचार भी इस समय तक दक्षिण में हो गया था । अर्थात् उत्तर से दक्षिण की ओर अग्रसर होनेवाले आर्यों का दक्षिण-दिग्विजय (जिसे अनेक विद्वान् सर्वथा काल्पनिक और अनैतिहासिक मानते हैं) ई. पू. ७००-८०० तक पूर्ण हो चुका होगा । विजय पाने के बाद धर्म-प्रचार करने में काफी अवधि लगती है । अत: ई. पू. ३०० आर्यों के दक्षिण-विजय का काल मानना उचित होगा । ई. पू. ८०० में आर्य अगर दक्षिण में पहुँचे होंगे, तो भारत के उत्तर में और अफगानिस्तान में उनका निवास ई. पू. १२०० से १५०० की अवधि में रहा होगा । इसी समय के पूर्व सिन्धु नदी के किनारे वेदों की रचना होना सम्भव है ।

मंत्र, ब्राह्मण और सूत्र – मैक्समूलर ने इनके निर्माण का जो काल निर्धारित किया है, उसका ह्विटनी ने समर्थन किया है, परन्तु मैक्समूलर के माने हुए सूत्रकाल (ई. पू. १२००-१०००) के साथ ह्विटनी का मतभेद है । ह्विटनी के मतानुसार ई. पू. २००० से १५०० तक छन्दों का काल माना गया है । प्रो. केजी ने ह्विटनी के मत को स्वीकार किया है ।

प्रो. हॉग ने वेदांग ज्योतिष के आधार पर वेदकाल का निर्णय करने का प्रयत्न किया है । अपने अध्ययन से प्रो. हॉग यह निष्कर्ष निकाले हैं कि ई. पू. १२वीं सदी शताब्दी के पहले भारतीयों का ज्योतिष-शास्त्र का ज्ञान इतना अधिक विकसित हो गया था कि –

(१) वे ग्रह-नक्षत्रों का सूक्ष्म निरीक्षण कर सकते थे ।

(२) ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राय: सभी क्रिया-कर्मों का समावेश हो चुका था । हॉग के मतानुसार ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना का समय ई. पू. १४००-१२०० तक और संहिताओं की रचना का काल ई. पू. २००० से १४०० तक निर्धारित हुआ है । तथापि कुछ ऋचाओं एवं यज्ञविधि में मंत्रों का काल इसके कई शताब्दी पहले का हो सकता है । तात्पर्य यह कि ई. पू. २४वीं शताब्दी वैदिक साहित्य का प्रारम्भ काल मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये । सम्भवत: यही ऋग्वेद का काल था ।

"चत्वारीति वा अन्यानि नक्षत्राणि अर्थत: एव भूयिष्ठा यत् कृत्तिकास्वादधीत एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते । सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्चवन्ते ।"

इस मंत्र के आधार पर ज्योतिर्विदों ने ऋग्वेद का समय निर्धारित करने का प्रयत्न किया है । उपरोक्त मंत्र में कहा है कि अन्य सारे नक्षत्र पूर्व दिशा की ओर जाते हैं, परन्तु कृत्तिका नक्षत्र पूर्व की ओर नहीं जाता । शतपथ ब्राह्मण के इस वर्णन के अनुसार कृत्तिका नक्षत्र की स्थिति ई. पू. ३००० के समय की हो सकती है । अत: वही कृत्तिका नक्षत्र का काल हो सकता है । तैत्तिरीय संहिता, शतपथ से पूर्वकालीन होने के कारण उसका समय शतपथ से दो सौ वर्ष पूर्व माना जा सकता है । तात्पर्यत: ऋग्वेद संहिता ई. पू. ३२०० से भी पूर्वकालीन होना चाहिये ।

लोकमान्य तिलक

लोकमान्य तिलक का सांस्कृतिक कार्य उनके राजनैतिक कार्य जैसा ही महान् था । प्राचीन संस्कृत वाङ्मय के क्षेत्र में उनका योगदान कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण माना जाता है । उन्होने सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में यत्र-तत्र उपलब्ध ज्योति:शास्त्र विषयक निर्देशो के आधार पर रचनाकाल की दृष्टि से वैदिक साहित्य के चार विभाग किया हैं –

(१) मृगशीर्ष-पूर्व काल (प्री-ओरायन पीरियड) ई. पू. ६०००-४०००

(२) मृगशीर्ष काल (ओरायन पीरियड) ई. पू. ४०००-२५००

(३) कृत्तिका काल - ई. पू. २५००-१४००

(४) सूत्रकाल - १४००-५००

अपने 'ओरायन' (मृगशीर्ष) नामक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ की प्रस्तावना में लोकमान्य जी ने वेदकाल विषयक अपना मत-प्रतिपादन स्पष्ट किया है । वे कहते है कि 'ऋग्वेद में निर्देशित परम्परा जिस जिस काल का संकेत करती है, वह काल ई. पू. ४००० के बाद का नहीं है, यह काल यानी जब वसन्त सम्पात मृगशीर्ष में होता था अर्थात् मृगशीर्ष से विषुवीय वर्ण का प्रारम्भ होता था ।

ऋग्वेद का यही काल जर्मन पण्डित प्रो. याकोबी ने भी निर्धारित किया है । उन्होंने अपना निष्कर्ष ऋग्वेद से आधुनिक काल तक ऋतु चक्र में जो क्रमश: परिवर्तन हुए, उसके आधार पर किया है ।

डॉ. रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ने वेदों में प्रयुक्त 'असुर' शब्द का 'असिरियन्' शब्द साम्य दिखाते हुए ई. पू. २५०० तक वेद-रचना का काल निश्चित किया है ।

अथर्ववेद का काल

अथर्ववेद का नामोल्लेख ऋग्वेदीय शांखायन तथा आश्वालायन श्रौत सूत्रों में, कृष्ण यजुर्वेदी तैत्तिरीय ब्राह्मण में, शुक्ल यजुर्वेदी शतपथ ब्राह्मण में और पतंजलि के व्याकरण-महाभाष्य

में मिलता है । इन ब्राह्मण ग्रन्थों ने वेदत्रयी के साथ इस चतुर्थ वेद का सम्बन्ध जोड़ा है । और इसे त्रयी का 'शुक्र' अर्थात् रहस्य माना है । इसका प्रमुख कारण यह है कि इसमें तीनों वेदो के मंत्र संग्रहित हुए हैं ।

भाषा की दृष्टि से ऋग्वेदीय मंत्रों का अंश छोड़कर, अन्य मंत्रों की भाषा में भाषा-शास्त्रज्ञो की दृष्टि से अपनी कुछ निजी विशेषता मानी जाती है । तथापि केवल उसी एक प्रमाण के आधार पर इस संहिता की रचना का काल निश्चित करना कठिन है ।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में कुछ भौगोलिक और सांस्कृतिक चित्रण अनोखा-सा मिलता है ।

जैसे ऋग्वेद में चित्रक (चीता) का उल्लेख नहीं है, परन्तु अथर्ववेद में उस वन्य प्राणी का उल्लेख आता है । यह प्राणी बंगाल में अधिक संख्या में दिखता है । अत: अथर्ववेद का सम्बन्ध उस प्रदेश से माना जाता है । जे. हर्टल नामक विद्वान ऋग्वेद की रचना भारत उत्तर-पश्चिमी दिशा में नही मानते । वे वेदों की रचना ईरान में जरथुस्त (ई. पू. ५००) के बाद की मानते थे ।

प्रो. बूलर ५००-७०० वर्षों की अल्पावधि में आर्यो का अखिल भारतीय दिग्विजय सम्भव नहीं मानते हैं ।

प्रो. जी. ह्यूसिंग ने कूर्नाफार्म शिलालेख के कुछ नामों का ऐसा रूपान्तर किया है, जिसके कारण वे नाम भारतीय नामों से मेल खाते हैं । उन नामों के आधार पर उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि आर्य लोग ई. पू. १००० के आगे-पीछे आर्मिनिया से अफगास्तिान मे आए होंगे और वहीं उन्होंने वेदो की रचना की होगी, क्योंकि वेदों में वर्णित कुछ प्राकृतिक वर्णन अफगानिस्तान की प्राकृतिक दृश्यावली से मेल खाते हैं ।

सन् १९०७ में एशिया एशिया-मायनर के बोधाझकोई नामक स्थान में, ह्यूगो विकलर नामक अन्वेषक को एक इष्टिका-लेख प्राप्त हुआ । लेख का सम्बन्ध हिट्टाइट और मिट्टानी के राजाओ के बीच हुई सन्धि से है । यह घटना ई. पू. १४ वी शताब्दी की मानी गयी है । लेख में सन्धि के संरक्षक देवताओं की नामावली में बाबीलोनी तथा हिट्टाइट देवताओ के नामो के साथ ही मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ – इन मिटानी (अथवा मितनी) देवताओं के नामों का उल्लेख और कुछ भारतीय पद्धति के संख्याचित्र भी मिलते हैं । इन वैदिक देवताओ के नामों के कारण इस इष्टिका-लेख को वैदिक अन्वेषको की दृष्टि से असाधारण महत्व प्राप्त हुआ ।

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ एडवर्ड मेयर कहते हैं कि जिस काल-खण्ड में भारतीय और ईरानी समाजों की भाषा तथा धर्म-प्रणाली अविभक्त थी, उस काल में मेसोपोटामिया और सीरिया प्रदेशों में आर्यों का प्रवेश हो चुका था । इसी काल में आर्य लोग भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में निवास करने लगे थे । इसी कारण ई.पू. १४वीं शती के बोधाझकोई इष्टिका-लेख में मित्र, वरुण, इन्द्र, नासत्यौ – इन वैदिक देवताओं का नामोल्लेख मिलता है । और आर्यो की ईरान से अफगानिस्तान होकर सिन्धु नदी की दिशा में होनेवाली अग्रगति और वेदों में उपलब्ध सप्तसिन्धु प्रदेश का वर्णन – इन दो बातों का समन्वय करते हुए कुछ विद्वानों में वेद रचना का काल ई.पू. १४०० के पहले माना है ।

बोधाझकोई के सन्दर्भ में एक स्वाभाविक शंका यह है कि मूलत: भारतवासी आर्य लोग दिग्विजय अथवा वैवाहिक सम्बन्धों के माध्यम से पश्चिम की ओर बढ़े होंगे और ई. पू. १४वीं शताब्दी में बोधाझकोई की घटना के सन्धिलेख में उन्होंने अपने इष्टदेवता के नाम अंकित किये होंगे । यह युक्तिसंगत शंका पाश्चात्य मतानुयायी विद्वानों के लिए एक चुनौती है और इसका निवारण करना उनके लिए कठिन होगा ।

वेबर के मतानुसार ई. पू. १६वीं शताब्दी में ईरान के आस-पास रहनेवाले लोगों के एक समूह ने भारत की ओर प्रस्थान किया । सिन्धु नदी के तट पर निवास करते समय उस समूह के विद्वानों ने वैदिक ऋचाओं की रचना की । उन ऋचाओं के संग्रह को ही ऋग्वेद कहते हैं ।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में चार वर्णो का नामोल्लेख है, परन्तु अथर्ववेद में ब्राह्मण का श्रेष्ठत्व (जो ऋग्वेद में नहीं मिलता) बताया गया है । अथर्ववेद में ब्राह्मण को 'भूदेव' माना गया है और उसे पौरोहित्य का अधिकार बताया गया है ।

ऋग्वेद में जिन देवताओं का स्वरूप प्राकृतिक दृश्यों-सा है, अथर्ववेद में उनका दर्शन आसुरी तथा विनाशक स्वरूप है । इस प्रकार के कुछ प्रमाणों के आधार पर अथर्ववेद का उत्तरकालीनत्व सिद्ध किया जाता है । परन्तु ऋग्वेद में अथर्ववेद का उल्लेख देखकर दोनों वेदों के समकालीनत्व का भी तर्क दिया जाता है । तथापि ऋग्वेदीय देवताओं का प्राकृतिक शक्ति जैसा स्वरूप है और ऋषियों द्वारा उनकी भक्तिपूर्ण स्तुति की जाती है । वे देवता मानवों की इच्छापूर्ति करते हैं, इसलिये उन्हें बलिभाग अर्पण कर प्रसन्न किया जाता है । इसके विरुद्ध अथर्ववेद में उन देवताओं का पैशाचिक स्वरूप और मानवों पर विपत्ति लाने की उनकी वृत्ति देखकर, आभिचारिक पुरोहित, अभिचार मंत्रों के प्रयोग से कभी उन्हे दूर हटाने का और कभी प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है ।

सुख-विवेचन

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर अनेक विचारोत्तेजनक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

हर प्राणी सुख चाहता है। उसकी हर क्रिया सुख पाने के लिए ही हुआ करती है। छान्दोग्य उपनिषद् में नारद को उपदेश देते हुए सनत्कुमार कहते हैं —**यदा वै सुखं लभने अथ करोति। न असुखं लब्ध्वा करोति। सुखमेव लब्ध्वा करोति।** — अर्थात् 'जब सुख मिलता है, तभी व्यक्ति क्रिया करता है। सुख न मिले, तो नहीं करता, सुख मिले तभी करता है।' यह जीवन का शाश्वत सिद्धान्त है। हम सुख-प्राप्ति के लिए लौकिक क्रियाओं में लगते हैं। हम अध्ययन में इसलिए प्रवृत्त होते हैं कि पढ़-लिखकर धनोपार्जन कर सकेंगे और उससे अभाव की पूर्ति द्वारा सुख सम्पादित कर सकेंगे।

वस्तुतः अभाव की पूर्ति से सुख की संवेदना होती है। हममें विद्या का अभाव है। उसके दूर होने पर हमें सुख मिलता है। इसी प्रकार रोग लग जाए तो दुःख होता और छूटे तो सुख का अनुभव होता है। इस तरह रोग का शमन भी हममें सुख की संवेदना पैदा करता है। पर भर्तृहरि ऐसे सुखानुभव को भ्रान्ति की कोटि में डालते हैं —

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि।
क्षुधार्तः सन् शालीन कवलयति शाकादि बलितान्॥
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमालिंगति वधू।
प्रतीकारो व्याधेः सुखमितिविपर्यस्यति जनः॥

— अर्थात् जब मनुष्य को प्यास-रोग सताता है, तब मीठे और सुगन्धित जल के पान से वह इस रोग को दूर कर लेता है। आनन्द तो उसे रोग के दूर होने के कारण आया, परन्तु वह मानता है कि मीठा सुगन्धित जल पीने से मुझे बड़ा आनन्द आया। यदि बात ऐसी ही हो, तो पेट भरा हो, तब भी वैसा जल पीने से आनन्द आना चाहिए, पर वह नहीं आता। इसी प्रकार क्षुधा भी एक रोग है। उसकी निवृत्ति शाकादि पदार्थों से मिश्रित चावल आदि का उपयोग करने से होती है। लोग कहते हैं कि भोजन में बड़ा आनन्द आया, पर वस्तुतः आनन्द तो भूखरूपी रोग के निवारण से प्राप्त हुआ। यदि किसी विशेष भोजन में आनन्द होता, तो पेट भरा रहने पर भी उसके भक्षण से आनन्द मिलना चाहिए, जो नहीं मिलता। इसी प्रकार काम का प्रदीप्त होना भी एक रोग है और उसका शमन पत्नी-सम्बन्ध के द्वारा होता है। असल में व्याधि के प्रतिकार के कारण हमें सुख मिलता है, पर मनुष्य भ्रान्ति से क्रियाओं में सुख मान लेता है। यदि सुख क्रियाओं से मिलता होता, तो सभी अवस्थाओं में उन क्रियाओं से सुख उत्पन्न होता, पर ऐसा नहीं हुआ करता।

तात्पर्य यह है कि रोग के दूर होने से ही सुख होता है। फ्लू या टायफायड के प्रकोप में पड़कर जब चगा होता हूँ, तो मुझे सुख होता है। तो क्या इसीलिए मैं यह यत्न करूँ कि मुझे फिर से फ्लू या टायफायड हो जाय और मैं उससे मुक्त होने की चेष्टा करूँ, जिससे मुझे सुख हो? नहीं, मैं ऐसा नहीं करता। मैं यही चाहता हूँ कि मैं सदा स्वस्थ बना रहूँ। यह जो रोग होना और उससे मुक्त होने से सुख का अनुभव करना है, इस सुख का अन्तर्भाव सदैव नीरोग रहने के सुख में हो जाता है। कोई यह नहीं चाहता कि मुझे बारम्बार रोग होते रहें और उन रोगों को दूर कर मैं सुख का अनुभव करता रहूँ। इसी प्रकार कामना के सम्बन्ध में समझना चाहिए। हमारे मन में कामना पैदा होती है और उसकी तृप्ति कर हम सुख का अनुभव करते हैं। पर प्रश्न यह है कि क्या यह सुख हमें सन्तोष प्रदान करता है? इसका उत्तर हमें 'नहीं' में मिलेगा, क्योंकि हर कामना की पूर्ति हमारी लालसा को और भी बढ़ा देती है। यह लालसा तृष्णा को जन्म देती है। इस 'तृष्णा' को 'महाभारत' में 'प्राणान्तक रोग' कहा गया है। राजा ययाति अपने जीवन की अनुभूतियों के बल पर कह उठते हैं —

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगः तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥

— अर्थात् दुर्मतियों के लिए जो दुस्त्यज है और शरीर के जीर्ण होने पर भी जो जीर्ण नहीं होती, ऐसी जो प्राणान्तक रोग तृष्णा है, उसे छोड़ने पर ही यथार्थ सुख मिलता है। तृष्णा-रोग का शमन ही निष्कामता कहलाती है। मनुष्य को सच्चा और स्थायी सुख इसी निष्कामता से प्राप्त होता है, कामनाओं की पूर्ति के पीछे भागने से नहीं।

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

मन्मथनाथ गांगुली

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म तथा उनका सामीप्य प्राप्त किया । उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने-वाले अनेक लोगो ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियों को लिपिबद्ध किया है । ये संस्मरण अनेक पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं और उनमें से कुछ का हिन्दी में भी प्रकाशन हो चुका है । प्रस्तुत लेख अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से लिया गया है और (स्वामीजी के ये संस्मरण बँगला मासिक 'उद्बोधन' तथा आंग्ल मासिक 'वेदान्त केसरी' के अंकों में प्रकाशित हुए थे ।) । – सं.)

१८९७ ई. में मैंने सुना कि स्वामीजी कलकत्ते आ पहुँचे हैं । वे बागबाजार में बलराम बसु के घर में ठहरे हुए थे । मैं वहीं पर उनका दर्शन करने गया । वहाँ दूसरी मंजिल पर सड़क के सामने की ओर एक हॉल था, जहाँ कुछ लोग बैठे स्वामीजी का दर्शन करने के लिए उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे । स्वामीजी बगल के कमरे में ठहरे हुए थे । फर्श पर दरी बिछी हुई थी । मैं उसी पर एक किनारे बैठ गया । थोड़ी देर बाद मैंने देखा की मिस नोबल (भगिनी निवेदिता) एक दरवाजे से होकर हॉल में आयीं । उन्होंने हल्के पीले रंग का पाँव तक लम्बा पूरे बाँह का एक लबादा पहन रखा था । उनके गले में रुद्राक्ष की माला थी । ऐसा लगा मानो वे एक साक्षात् देवी हैं ।

स्वामीजी जिस कमरे में थे, वे धीमे कदमों के साथ उसके चौखट के पास जाकर हॉल में ही घुटने टेककर बैठ गयीं, दोनों हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया और अंजलि बाँधे बैठी रहीं । परन्तु उन्होंने उस कमरे में प्रवेश नहीं किया, जहाँ वे एक खाट पर बैठे हुए थे । स्वामीजी ने कमरे के भीतर से ही उनके साथ थोड़ी देर बातचीत की । इसके बाद स्वामीजी को पुन: प्रणाम करके वे चली गयीं ।

मैंने भगिनी निवेदिता के बारे में बहुत कुछ सुन रखा था, परन्तु पहली बार मैंने उन्हें प्रत्यक्ष रूप से देखा । उनके चेहरे पर मैडोना के समान प्रशान्ति तथा परिपूर्णता का भाव था, जो ईश्वर के साक्षात् दर्शन का द्योतक है ।

इसके थोड़ी देर बाद श्री विजयकृष्ण गोस्वामी ने आकर हॉल में प्रवेश किया । उनके साथ और भी कई लोग खोल-करताल आदि लेकर आये हुए थे । वे सभी हॉल में एक किनारे बैठ गये । गोसाईजी के आकर बैठते ही स्वामीजी अपने कमरे से बाहर निकल आये और इसके साथ ही गोसाईजी तथा उनके संगीगण उठ खड़े हुए । गोसाईजी ने स्वामीजी को प्रणाम करने का प्रयास किया, परन्तु स्वामीजी ने पीछे हटकर स्वयं ही उन्हें प्रणाम करने का प्रयास किया । फलत: दोनो ही एक-दूसरे को प्रणाम नहीं कर सके ।

इसके बाद स्वामीजी ने गोसाईजी का हाथ पकड़कर दरी पर बैठाया । गोसाईजी उस समय पूरी तौर से भावविभोर थे । थोड़ी देर सबके मौन बैठे रहने के बाद स्वामीजी ने गोसाईजी से कहा, ठाकुर के विषय में आप कुछ कहिए । गोसाईजी ने उसी विभोर अवस्था में केवल इतना ही कहा, "ठाकुर, उन्होंने मुझ पर कृपा की थी ।" इससे अधिक वे और कुछ नहीं कह सके । उनके दोनों नेत्रों से प्रेमाश्रु बहने लगे और वाणी रुद्ध हो गयी । तब उनके संगीगण उठ खड़े हुए और संकीर्तन आरम्भ हुआ । थोड़ी देर कीर्तन करने के बाद वे लोग गोसाईजी को लेकर नीचे चले गये । तब मैंने दूर से ही स्वामीजी को साष्टांग प्रणाम किया ।

दिसम्बर (१८९८) के अन्त में एक दिन बेलूड़ मठ गया था । स्वामीजी रसोईघर के सामने के खुली जगह में खड़े थे – उनके शरीर पर लबादा और सिर पर गेरुए रंग की ऊनी टोपी थी । उनके शरीर का वर्ण गोरा और बड़ा सुन्दर था । नेत्र खूब बड़े थे, इतने सुन्दर नेत्र मैंने अन्यत्र कहीं नहीं देखे । निकट जाकर उन्हें प्रणाम किया । निकट एक तम्बू था, जिसके भीतर एक साधारण-सी मेज तथा कुछ कुर्सियाँ लगी हुई थीं । स्वामीजी ने एक ब्रह्मचारी से चाय लाने को कहा । तम्बू के भीतर ही मुझे चाय तथा ठाकुर का प्रसाद दिया गया ।

इसके बाद स्वामीजी ने मेरा परिचय पूछा कि मैं कहाँ रहता हूँ, क्या करता हूँ, इत्यादि । मैंने बताया कि इलाहाबाद में रहता हूँ । मठ में इसके पूर्व भी मैं जाया करता था और सम्भवत: किसी के मुख से उन्होंने मेरा नाम सुन रखा था । इलाहाबाद में मेरे कुछ मित्र श्रीरामकृष्ण का चित्र रखकर पूजा किया करते थे । हम लोग जहाँ पूजा करते, वहीं जप, ध्यान तथा धर्मग्रन्थों का पाठ और उन पर चर्चा भी हुआ करती थी । हमारी संस्था का नाम था ब्रह्मवादिन् क्लब । उस समय स्वामीजी के साथ इस विषय में कोई चर्चा नहीं हुई, परन्तु उनके भाव से ऐसा लगा कि इस बारे में उन्होंने सुन रखा है । इसके बाद स्वामीजी मठ के भीतर चले गये और मैं अन्य भक्तों के साथ बैठा रहा ।

इसके थोड़ी देर बाद – तब लगभग दस बजे थे – मैंने देखा कि स्वामीजी मठ के भीतरी बरामदे में एक कुर्सी पर बैठे हुए है और उनके सामने एक छोटी-सी मेज हैं । बरामदे के तीन तरफ तीन बेंचें रखी हुई थीं । महापुरुष महाराज, राखाल महाराज और शरत् महाराज एक बेंच पर बैठे हुए थे । दूर के एक अन्य बेंच पर मैं भी जा बैठा । स्वामीजी अपने सम्मुख बैठे गुरुभाइयों के साथ वार्तालाप कर रहे थे और मैं चुपचाप

एक श्रोता के रूप में बैठा रहा, क्योंकि स्वामीजी के प्रति बड़ा लगाव होने पर भी मेरा उनके प्रति इतने भय तथा आदर का भाव था कि मैं उनके बीच बोलने का साहस नही कर सका।

स्वामीजी कह रहे थे, "शिकागो में जब यह प्रमाणित हुआ कि हिन्दू धर्म ही पृथ्वी का सर्वश्रेष्ठ धर्म है, तो पादरी लोगों को बड़ी जलन हुई। उन्होंने निश्चित किया कि फ्रांस में एक अन्य धर्मसभा का आयोजन करेंगे। उन लोगों ने सोचा है कि ये स्वामीजी तो फ्रांसीसी भाषा में व्याख्यान दे नहीं सकेंगे, अत: इस बार उनकी मनोकामना पूरी हो सकेगी।"[१]

पहली बार अमेरिका से लौटकर स्वामीजी अधिक दिनों तक भारत में नही रहे। दूसरी बार वे हरि महाराज को भी अपने साथ अमेरिका ले गये। इसके बाद यूरोप यात्रा के समय वे फ्रांस गये और अल्प अवधि में ही उन्होंने फ्रांसीसी भाषा सीखकर व्याख्यान दिया। उन्हें उस भाषा में भी इतना सुन्दर ढंग से व्याख्यान देते देखकर यूरोपवासियों को बड़ा आश्चर्य हुआ। तब वे लोग समझ गये कि उनका उद्देश्य पूरा होने की अब कोई आशा नहीं है।

स्वामीजी अपने अमेरिका के दिनों की विभिन्न घटनाएँ बतलाने लगे। उनके कमरे के बाहर एक लेटरबाक्स रहता था। डाकिया आकर उसमें उनके सारे पत्र डाल जाता था। स्वामीजी उसमे ताला लगाकर रखते थे। बीच बीच में उसे खोलकर पत्र आदि बाहर निकालते। अन्य पत्रों के साथ ही उन्हे बीच बीच में उच्च शिक्षित तथा धनी अमेरिकी कुमारियों से विवाह के प्रस्ताव युक्त पत्र भी मिला करते थे। स्वामीजी उन पत्रों के उत्तर नहीं देते, बल्कि उन्हें फाड़कर फेंक देते।

अन्त मे किसी किसी ने उनके पास आकर प्रत्यक्ष रूप से भी यह प्रस्ताव रखा था। स्वामीजी उनसे कहते, 'मैं संन्यासी हूँ। भारत में संन्यासीगण विवाह नही करते। सभी स्त्रियाँ मेरे लिए माता या बहन के समान हैं। अत: विवाह करने का प्रश्न ही नही उठता।" वे लोग इस भाव को समझ ही नहीं पातीं और आश्चर्यचकित होकर लौट जातीं।

उस दिन एक अन्य आश्चर्यजनक घटना भी स्वामीजी के मुख से सुनने को मिली थी। अमेरिका के विभिन्न नगरों में व्याख्यान देते देते एक बार स्वामीजी के मन में आया, जो कहने का था, "सब तो कह डाला। अब आगे क्या कहूँगा।" उन दिनों वे एक स्थान पर जो कुछ बोलते, अन्यत्र उन्हीं बातों को दुहराते नहीं थे। एक बड़े शहर में उन्हें व्याख्यान देना था और क्या बोलेंगे यह वे निश्चित नहीं कर सके। काफी रात गये वे एक आरामकुर्सी पर बैठे सोच रहे थे, उसी समय उन्हे ठाकुर के मुख की वाणी सुनायी देने लगी। उस समय वे ठाकुर की श्री मूर्ति देख नहीं पा रहे थे। केवल उनकी अशरीरी वाणी उच्च स्वर में धाराप्रवाह उच्चरित हो रही थी। वे सारी बाते स्वामीजी बड़ी स्पष्टता के साथ सुन रहे थे – व्याख्यान में क्या क्या बोलना होगा, यह काफी देर तक बताया जाता रहा। ठाकुर जैसे बँगला में बोला करते थे, वैसे ही बाले। अगले दिन व्याख्यान के समय स्वामीजी ने उसी विषय को बड़े ही मनोहारी ढंग से प्रस्तुत किया था।

उसी दिन प्रात:काल पास के कमरे में जो सज्जन रहते थे, उन्होंने स्वामीजी से पूछा, "कल रात आपके कमरे में कौन आए थे।" वे यह समझ नहीं सके थे कि किस भाषा में या क्या बातें हो रही थीं। उन सज्जन की बात सुनकर स्वामीजी स्वयं भी अवाक् रह गये थे।

बात बात में स्वामीजी कहने लगे कि अमेरिका में एक बार वे ठाकुर के अद्भुत त्याग के विषय में बोल रहे थे – श्रीरामकृष्ण रुपये-पैसे छू नहीं पाते थे। कभी स्पर्श हो जाने पर उनकी अँगुली टेढ़ी हो जाती और उन्हें काफी पीड़ा होती थी। एक बार वे रात में सो रहे थे। उसी समय एक रुपये का सिक्का उनके शरीर से स्पर्श कराते ही वे चिल्ला उठे थे। उनकी नीद तो टूटी ही और साथ ही पीड़ा भी होने लगी। व्याख्यान में स्वामीजी ने कहा कि यह घटना उन्होंने अपने नेत्रों से देखी है। अन्त में वे बोले, "निद्रावस्था में भी धन के स्पर्श से जो ऐसा हुआ करता था, दार्शनिकों को शोध करके इसका कारण ढूँढ़ निकालना चाहिए।"

इसके थोड़ी देर बाद ही राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) ने स्वामीजी से ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) की एक जीवनी लिखने का अनुरोध किया। यह सुनकर स्वामीजी संकुचित हो उठे और बोले, "मुझसे यह काम नहीं हो सकेगा। शिव की मूर्ति गढ़ने के प्रयास में कहीं बन्दर न गढ़ बैठूँ!" इस पर महाराज बोले, "तुम यदि न लिख सको, तो फिर ठाकुर की जीवनी लिखी नहीं जा सकेगी।" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "ठाकुर की इच्छा होगी, तो वे किसी अन्य के द्वारा लिखवा लेंगे।"

एक दिन स्वामीजी ने मुझसे कहा, "तू तो इलाहाबाद में रहता है, डॉक्टर नन्दी को जानता है क्या?" मैंने कहा, "हाँ।" स्वामीजी कहने लगे, "मैं जब झूसी में रहता था, तो कभी कभी डॉक्टर नन्दी के घर भिक्षा कर आता था। उनके साथ मेरी अच्छी पहचान थी।" डॉक्टर नन्दी श्रीरामकृष्णदेव के एक भक्त थे। बचपन से ही वे ठाकुर के पास जाया करते

---

१. पेरिस की सभा १९०० ई. के अगस्त माह में हुई। सम्भवत: स्वामीजी मन्मथ बाबू से उसके आयोजन पर्व के बारे में बाते कर रहे थे। इसके अतिरिक्त दिसम्बर मे यह साक्षात्कार हुआ ऐसा पहले उल्लेख है तथापि ऐसा नही भी हो सकता है, क्योंकि १८९८ ई. के दिसम्बर में स्वामीजी ने नये भवन में रहना प्रारम्भ नही किया था। द्वितीय बार विदेश से लौटने के बाद १९०० ई. के ९ से २६ दिसम्बर तक वे बेलूड़ तथा कलकत्ते में थे। १९०१ ई. के दिसम्बर में भी वे अधिकांशत: इन्हीं दो स्थानों मे रहे। (युगनायक विवेकानन्द)

थे । उनके साथ मेरा भी परिचय हो गया था । मैंने उनसे सुनकर रखा था कि ठाकुर के प्रधान शिष्य स्वामी विवेकानन्द कई महीने गंगा के उस पार जहाँ साधु-संन्यासी रहा करते हैं – वहीं रहे थे । उन दिनों भयंकर गरमी का मौसम था । दोपहर के समय भोटिया कम्बल का आधा हिस्सा कमर में लपेटे और आधा शरीर पर डाले वे नंगे पाँव पाँच-छह मील पैदल चलकर डॉ. नन्दी के घर जाते और भिक्षा ग्रहण करने के बाद पैदल ही लौट जाते । पश्चिमी भारत के साधुओं में ऐसी ही कठोरता प्रचलित थी, परन्तु स्वामीजी की कठोरता उनसे भी आगे निकल गयी थी ।

मै कलकत्ता से प्राय: ही बेलूड़ मठ जाया करता था । स्वामीजी का दर्शन पाने की आशा में अनेक युवा तथा प्रौढ़ लोग मठ में जाया करते थे । परन्तु सर्वदा उनका 'दर्शन' हो नहीं पाता था । अधिकांश समय स्वामीजी अपने कमरे में ही रहते; उस समय किसी को भी उनके पास जाने की अनुमति न थी । वे स्वयं ही जब बाहर आते, तभी सर्व-साधारण उनके पास आ पाते । स्वामीजी के गुरुभाई भी हर समय उनके पास नहीं जाते थे । सामान्यत: स्वामीजी के कमरे के बाहर रहने पर ही उन लोगों का उनके साथ स्वाभाविक रूप से बातचीत तथा व्यंग-विनोद – सब हुआ करता था ।

एक दिन स्वामीजी की माता मठ में आयीं । उन्हें देखने ही मेरे मन में उनके प्रति अतीव श्रद्धा का उद्रेक हुआ । उनके शरीर का गठन बलिष्ठ था, दोनों नेत्र बड़े और आयताकार थे, (जिन्हें बोलचाल की भाषा में 'परवल के समान' नेत्र कहा जाता है)। उनमें सबल दृढ़ चित्त तथा तेजस्विता का भाव मानो फूट-फूटकर निकल रहा था । देखकर लगा कि ऐसी माता के ही स्वामीजी के समान पुत्र होना सम्भव है । मठ के दुमंजले पर चढ़कर उन्होंने उच्च स्वर में हाँक लगाई – "बिलू-ऊ-ऊ"। स्वामीजी तत्काल कमरे से बाहर निकल आये । थोड़ी देर बाद ही मैंने देखा कि स्वामीजी माँ के साथ सीढ़ी से नीचे उतर रहे हैं । दोनों बाहर के उद्यान में टहलने लगे और माता व पुत्र के बीच धीमी आवाज में बातचीत होने लगी ।

बीच बीच में स्वामीजी बलराम बाबू के भवन में जाया करते थे । वहाँ रहने पर वे माँ के पास जाकर उनका दर्शन कर आते थे । जब वे मठ में रहते, तो भी बीच बीच में कलकत्ते जाकर माँ से मिल आते । वैसे वे मठ में बहुत कम ही आया करती थीं । उस दिन बड़े सौभाग्य से मैं उन्हें मठ में देख सका । मैंने यह भी देखा कि माँ के समक्ष जगद्विख्यात् स्वामी विवेकानन्द मानो एक छोटे शिशु बन जाते हैं ।

एक दिन अपराह्न में लगभग चार बजे जापान के कौसल (वाणिज्य-दूत) स्वामीजी से भेंट करने आए । मठ भवन के नीचेवाले पश्चिमी बरामदे में कुछ बेंचे लगी रहती थीं । वे तथा उनके दुभाषिये वहीं बैठे । स्वामीजी को सूचना दी गयी । सामान्यत: ऐसा नही किया जाता था, तथापि किसी विशिष्ट व्यक्ति के आने पर उन्हें सूचना दी जाती थी । परन्तु हर बार स्वामीजी तत्काल बाहर नहीं आते थे । भेंट करना या न करना – यह पूरी तौर से उनकी तात्कालिक इच्छा पर निर्भर करता था । कभी वे जल्दी नीचे उतर आते और कभी कभी तो भेंट ही नहीं हो पाती । उस दिन उन्हें सूचना भेजे जाने पर हम लोगों ने सोचा कि वे उतर आयेंगे, परन्तु ऐसा नहीं हुआ । काफी देर बीत गया और जापान के राजदूत चुपचाप प्रतीक्षा करते रहे । आखिरकार स्वामीजी आये और शिष्टाचार की बातें समाप्त होने के बाद दुभाषिये के माध्यम से राजदूत बोले, "हमारे मिकाडो ने आपसे अनुरोध किया है कि आप जापान आइये । जितने शीघ्र आ सकें, उतना ही अच्छा होगा । आप वहाँ हिन्दू धर्म का प्रचार करेंगे और इससे जापान का कल्याण होगा । आपकी सहमति मिलते ही मिकाडो वहाँ आपके राजोचित स्वागत की व्यवस्था करेंगे ।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है । इस समय जापान जाना सम्भव नहीं हो सकेगा ।" राजदूत ने पूछा, "तो क्या मैं मिकाडो को सूचित कर दूँ कि आप स्वस्थ होने पर जायेंगे?" इस पर स्वामीजी बोले, "मुझे नहीं लगता कि यह शरीर अब पुन: कभी ज़ापान जाने के लायक होगा ।"

स्वामीजी मधुमेह रोग से पीड़ित थे और वे कृशकाय हो गये थे । राजदूत लौट गये और स्वामीजी ने अपने कमरे में प्रवेश किया । सामान्यत: इसी समय वे थोड़ा टहलने के लिए निकला करते थे, परन्तु उस दिन वे टहलने नहीं गये ।

इसके थोड़े दिनों बाद ही मैं कलकत्ते से इलाहाबाद लौट आया । उन दिनों मैं ब्रह्मवादिन् क्लब में रहा करता था । पूजनीय विज्ञान महाराज भी हमारे क्लब में आकर रहा करते थे । उन दिनों (स्वामीजी की प्रेरणा से) 'ब्रह्मवादिन्' नाम की एक पत्रिका निकल रही थी । इस नाम ने हम लोगों के मन पर अधिकार कर लिया था और उसी के अनुसार क्लब का नामकरण हुआ था । छुट्टी पाते ही मैं कलकत्ते तथा बेलूड़ मठ चला जाता । परन्तु हर बार स्वामीजी से भेंट नहीं हो पाती । इसी प्रकार एक बार बेलूड़ मठ जाकर पता चला कि वे अन्यत्र गये हैं । पूजनीय राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) मठ में थे । इसके पहले मैं उनके पास अनेकों बार गया था । मैं उन्हें देखता – वे बातें बहुत कम करते और बहुधा भावमग्न अवस्था में रहते । सुना था कि उनकी आध्यात्मिक अवस्था बड़ी ऊँची है । ठाकुर ने स्वयं उन्हें अपना मानसपुत्र कहा था; परन्तु इस उक्ति के तात्पर्य को समझना मेरे वश की बात नहीं थी । सुनने में आता था और मेरा विश्वास भी था कि वे अन्तर्यामी हैं । उन दिनों मेरे मन में कई संशय थे । मैं यह आशा लेकर चुपचाप

उनके सामने बैठा रहा कि मेरे कहे बिना भी वे उन शंकाओं को समझकर समाधान कर देंगे । वे भी बिना कुछ कहे अपने भाव मे तन्मय बैठे रहे ।

थोड़ी देर बाद उन्होने मुझसे कहा, "मन्मथ! चलो, थोड़ा घूम आये ।" उस समय संध्या होने को थी । मठ से द्वार तक रास्ता था । गंगातट पर तब भी कोई मन्दिर आदि नहीं बने थे । अधिकांश स्थान खाली था । हम लोग टहलते हुए कई बार दक्षिण की ओर के जहाज-घाट की ओर के द्वार तक गये और लौटे । इसी दौरान बातचीत करते हुए उन्होंने मेरे सारे प्रश्नो की भलीभाँति मीमांसा कर दी । इसके बाद मठ के सामने की घाट के एक चबूतरे पर वे स्वयं बैठ गये और मुझे भी पास बैठने का संकेत किया । मैं एक सीढ़ी नीचे उतरकर उनके चरणो के समीप बैठ गया ।

जैसे 'स्वामीजी' कहने का तात्पर्य स्वामी विवेकानन्द से था, वैसे ही 'महाराज' कहने से उसका तात्पर्य राखाल महाराज या स्वामी ब्रह्मानन्द से हुआ करता था । उन दिनों महाराज के प्रति मेरी अतिशय श्रद्धा हो गयी थी । मैंने सोचा था कि उनसे दीक्षा मिल जाने से ही मेरा जीवन सार्थक होगा । मैंने उनसे कातर स्वर मे कहा था, "ठाकुर की पूजा, जप-ध्यान आदि तो करता हूँ, परन्तु लगता है कि दीक्षा मिल जाने से अच्छा होता । आप मुझे दीक्षा दीजिए ।"

राखाल महाराज थोड़ी देर तक अन्तर्मुखी होकर बैठे रहे । उसके बाद वे गम्भीर स्वर में बोले, "तेरा गुरु मैं नहीं हूँ । तेरे गुरु स्वामीजी है ।" यह सुनकर मैं हताश हो गया । लगा कि तब तो मेरी दीक्षा नहीं हो सकेगी । मेरे लिए स्वामीजी का शिष्य होना वैसे ही था, मानो बौने होकर चाँद को पकड़ने की इच्छा करना । उनके मंत्रशिष्य काफी कम थे और मेरा भला ऐसा कौन-सा पुण्य था, जो वे मुझे दीक्षा देते! मेरा मन बड़ा हताश हो गया और मैं थोड़े दिनों बाद इलाहाबाद लौट गया ।

इसके बाद जब मैं बेलूड़ मठ गया, तो देखा कि स्वामीजी मठ में ही हैं । लगा कि उनके स्वास्थ्य में भी थोड़ा सुधार हुआ है । एक दिन सुबह जाकर मैंने देखा कि स्वामीजी मठ के पुराने मन्दिर के सामने टहल रहे हैं और बारम्बार अस्फुट स्वर में यह श्लोक कह उठते हैं – **गर्जन्तं राम रामेति, ब्रुवन्तं राम रामेति** । लग रहा था मानो स्वामीजी स्वयं ही महावीर होकर श्रीराम-जानकी की ड्योढ़ी पर पहरा दे रहे हों । महावीर के हुँकार में केवल 'राम' 'राम' की ही ध्वनि सुनाई दिया करती थी । उनके प्रत्येक वाक्य में 'राम' 'राम' की प्रतिध्वनि सुनाई देती थी ।

महावीर हनुमान को स्वामीजी महा शक्तिमान कहा करते थे । स्वामीजी को उस दिन देखकर लगा कि वे भी महावीर के समान ही परम शक्तिशाली हैं । उनके प्रत्येक हाव-भाव तथा पदक्षेप से शक्ति की ही अभिव्यक्ति हो रही थी । उनका मुखमण्डल भाव से रक्तिम हो उठा था और शिकागो-व्याख्यान के चित्र के समान उनके दोनों हाथ सीने से लगे हुए थे । थोड़े मतवाले होने पर जैसे पाँव पड़ते हैं वैसे ही वे चल रहे थे । तथापि उनकी गति क्षिप्र तथा तीर्यक् थी । कभी कभी वे अपने हाथ बगल में हिलाते हुए चलते थे, परन्तु निरन्तर वहाँ एक ही भाव में परिक्रमण कर रहे थे । सहसा वे बाहर के द्वार के पास आकर खड़े हो गये । इसके बाद बाहर के आकाश की ओर देखते हुए दोनों बाहु ऊपर उठाकर महा पराक्रम के साथ बोल उठे, "मैं सूर्य-चन्द्र की गति को भी रोक सकता हूँ ।"

अपूर्व था वह दृश्य! कभी लक्ष्मण को शक्तिबाण लग जाने पर महावीर ने सूर्य को अपने कोख में डाल लिया था । श्रीरामकृष्ण के कार्य हेतु स्वामी विवेकानन्द भी पुनः वैसा ही करने को प्रस्तुत थे । ऐसा कोई भी असाध्य कर्म नहीं था, जो वे न कर पाते । वे सूर्य या चन्द्रमा की गति को अवरुद्ध कर दें, इसमें आश्चर्य की क्या बात?

❖ (आगामी अंक में जारी) ❖

विज्ञानसम्मत धर्म

क्या धर्म को भी उन बुद्धि के आविष्कारों द्वारा स्वय को सत्य प्रमाणित करना होगा, जिनकी सहायता से अन्य सभी विज्ञान अपने को सत्य सिद्ध करते हैं ? मेरा तो विचार है कि ऐसा अवश्य होना चाहिए और यह कार्य जितना शीघ्र हो, उतना ही अच्छा । यदि कोई धर्म इन अन्वेषणों के द्वारा ध्वशप्राप्त हो जाय, तो वह सदा से निरर्थक-कोरे अन्धविश्वास का धर्म था और वह जितनी जल्दी दूर हो जाय, उतना ही अच्छा । सारा मैल धुल जरूर जाएगा, पर इस अनुसन्धान के फलस्वरूप धर्म के शाश्वत तत्व विजयी होकर निकल आएँगे । वह केवल विज्ञानसम्मत ही नहीं होगा - कम से कम उतनी ही वैज्ञानिक जितनी कि भौतिकी या रसायनशास्त्र की उपलब्धियाँ हैं - प्रत्युत और भी सशक्त हो उठेगा; क्योंकि भौतिक या रसायनशास्त्र के पास अपने सत्यों को सिद्ध करने का अन्तःसाक्ष्य उपलब्ध नहीं है, जो धर्म को उपलब्ध है ।

— *स्वामी विवेकानन्द*

आचार्य रामानुज (६)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से वापस लौटने पर मद्रास नगर की जनता ने उनसे हार्दिक अनुरोध किया कि उस प्राचीन नगरी में भी अपने युगधर्म-प्रचार का कार्य आरम्भ करें। इसी के उत्तर में उन्होंने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को वहाँ भेजा। उन्होंने वहाँ की स्थानीय आध्यात्मिक परम्परा से देशवासियों का परिचय कराने के लिए सद्य:प्रकाशित बँगला मासिक 'उद्बोधन' के लिए श्री रामानुजाचार्य के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुई। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों का भी इन प्रात:स्मरणीय महापुरुष के जीवन तथा भावधारा से परिचय कराने हेतु हम इसके हिन्दी अनुवाद का धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

१. अवतरण का उद्देश्य

श्री सम्प्रदाय के प्रणेता श्री रामानुज का चरितामृत पान करने के पूर्व हम अखिल ब्रह्माण्ड की अधिष्ठातृ श्री देवी के चरणों में साष्टांग प्रणाम करते हैं –

आकारत्रय सम्पन्नामरविन्द निवासिनीम्।
अशेषजगदीशस्त्रीं वन्दे वरदवल्लभाम्॥[१]

– जो श्रीदेवी, लीलादेवी तथा भूदेवी इन तीन रूपों में नित्य विराजमान हैं, प्रस्फुटित कमल में जिनका निवास है, जो सम्पूर्ण भुवन के अधिपति की सहधर्मिणी हैं, मैं उन विश्वबन्धु की हृदयविलासिनी के पादपद्मों की वन्दना करता हूँ। उनकी कृपा से यह ग्रन्थ निर्विघ्न पूरा हो।

चैत्रार्द्रासम्भवं विष्णोर्दर्शनस्थापनोत्सुकम्।
तुण्डीरमण्डले शेषमूर्तिं रामानुजं भजे॥[२]

– जो चैत्रमास के आर्द्रा नक्षत्र में तुण्डीर या चोलराज्य में विष्णुभक्तिप्रधान शारीरक मीमांसा का दर्शन प्रचार करने की इच्छा से अवतीर्ण हुए थे, मैं उन्हीं अनन्तावतार भगवान श्री रामानुज की पूजा-वन्दना करता हूँ।

विश्व-ब्रह्माण्ड में हम जहाँ भी दृष्टि डालते हैं, उसी ओर हमें भाव तथा अभाव का विषम मेल दीख पड़ता है। अभाव के प्रकोप से भावराशि इधर-उधर संचरित होकर विविधतामय संसार मरीचिका का विकास कर रही है। जीवगण अन्न, पेय, आच्छादन आदि के अभाव के भय से उनके संग्रहणार्थ कितने ही प्रकार के शारीरिक व मानसिक उपायों की खोज और उनकी सहारा लेकर उस पर विजय प्राप्त करने का प्रयास कर रहे हैं। शीत-उष्ण रूपी द्वन्द्व के चलते असंख्य परमाणु साम्यावस्था खोकर अनन्त आकाशगर्भ में कितने और बिखरते जा रहे हैं, इसकी भला कौन धारणा कर सकता है? सतत् संचरणशील संसारतरु का मूल अभाव ही है। अभाव दूर हुए बिना भला कौन संसार-बन्धन को पारकर चिर शान्ति पाने की आशा कर सकता है? इस कारण इस अभाव को दूर करना ही समस्त शान्तिप्रिय जड़-चैतन्यात्मक भाव-वस्तुसमूहों का एकमात्र उद्देश्य है और इसीलिये अनादि काल से भाव-अभाव के बीच संघर्ष होता आया है। इसी का नाम संसार है। आखिरकार इस युद्ध में किसकी विजय होती है? भाव की या अभाव की? भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस प्रश्न का उत्तर 'अभाव' शब्द के अर्थ पर विचार करने से अनायास ही मिल जायेगा।

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:"[३]

असत् या अभाव पदार्थ की कोई सत्ता नहीं है, केवल भाव पदार्थ ही चिरस्थायी है। अतएव हे मानव, तुम जो 'संसार, संसार' कहकर भय पा रहे हो, यह तुम्हारा भ्रम है; क्योंकि जो अभाव की जड़ पर खड़ा है, वह अभाव को छोड़ कभी भाव नहीं हो सकता। शून्य के ऊपर केवल शून्य ही आश्रित रह सकता है। तुम्हारा समस्त युद्ध-विग्रह केवल शून्य के साथ है, यह बात जिस दिन तुम्हारी समझ में आ जायेगी, उस दिन से वैसे तुम्हारी युद्ध में प्रवृत्ति नहीं होगी और उसी दिन तुम्हें चिरशान्ति निकेतन जाने का अधिकार मिल जाएगा, उसी दिन तुम्हारे सारे अभाव दूर हो जायेंगे, उसी दिन तुम अपनी पूर्णता का बोध करके परमानन्द लाभ कर सकोगे, उसी दिन तुम सच्चे दार्शनिक बनोगे, क्योंकि **"उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयो: तत्त्वदर्शिभि:"**[३] – केवल तत्त्वदर्शीगण ही भाव-अभाव के पार्थक्य से अवगत हो सकते हैं।

अभाव को दूर करना ही प्राणिमात्र का स्वभाव है। जगत् में सर्वत्र अभाव होते ही उसकी पूर्ति का प्रयास दिखता है। जीव भाव-पदार्थ होने के कारण ही, अभाव के प्रति उसकी सतत कुदृष्टि बनी रहती है, वह अभाव को क्षण भर के लिये भी अपने हृदय में स्थान देने को तैयार नहीं है। पूर्णावस्था में रहना ही उसका नित्य स्वभाव है, अतएव वह अक्षर-स्वरूप, अनादि और अनन्त है। यही जीव का परमार्थ तत्त्व है।

हम विचार के द्वारा जीव के सम्बन्ध में इस धारणा तक पहुँचे। अब देखें कि वही जीव अपने को क्या समझता है। प्रत्येक जीव जो स्वयं को देहस्वरूप मानता है, यह बात इतनी स्पष्ट है कि इसके लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। इसी कारण वह देह के जन्म तथा लय के साथ ही अपना भी जन्म-लय मानता है। इसीलिये श्रुति कहती है –

१. श्रीयामुनाचार्यकृत श्रीस्तुति, ५ २. दिव्यसुरिस्तोत्रम्, १६

३. गीता, २/१६

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढ़म् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ।।[४]

– धन के मद में चूर प्रमादग्रस्त मानव को परलोक में विश्वास नहीं हो सकता । परलोक के अस्तित्व को नकारते हुए इहलोक को ही सत्य मानकर वह बारम्बार मृत्यु के पाश में आबद्ध होता है । वस्तुत: मृत्यु का भय किस प्राणी को नहीं होता? मृत्यु से किसी को प्रेम नही होता, क्योंकि सामान्य लोग मृत्यु शब्द का अर्थ भाव का अभाव या जीवन की समाप्ति ही समझते हैं । इसी कारण अभाव-विद्वेषी भावरूप जीव मृत्यु को सर्वदा भीति एवं घृणा की दृष्टि से ही देखता है । यह भी जीव की नित्यता का एक प्रमाण है । जीव यदि स्वभावत: अनित्य या अभाव रूप होता, तो मृत्यु के प्रति उसमें ऐसी भीति व घृणा का उदय न होता ।

श्रीरामकृष्णदेव ने एक अति सुन्दर व सरल उपमा के द्वारा स्पष्ट रूप से समझा दिया है कि यह भीति पूर्णत: निर्मूल है । हरि के पिता बाघ का एक मुखौटा लाकर उसे दिया । मुखौटा पाकर हरि बड़ा आनन्दित हुआ और उसे पहनकर अपनी छोटी बहन सरला को डराने लगा । सरला उस समय अपनी गुड़िया के विवाह को लेकर खूब व्यस्त थी । तभी हरि सहसा भयानक चीत्कार करते हुए उसके सम्मुख कूद पड़ा । बालिका वह भीषण आवाज सुनकर और भयंकर मुख देखकर भय से अधमरी हो गई और 'माँ, माँ' चिल्लाते हुए भागने का मौका देखने लगी, परन्तु दुर्भाग्यवश हरि घर के दरवाजे पर ही जमकर बैठा था । अत: सरला किंकर्तव्यविमूढ़ होकर भय से काँपते हुए और भी उच्च स्वर में माँ को पुकारते हुए रोने लगी । हरि ने बहन को अतिशय भयभीत देखकर तुरन्त अपना मुखौटा खोल डाला । सरला बाघ के स्थान पर अपने भैया को देखकर उसके अंग पर उछल पड़ी और भय का वेग कम हो जाने पर उसे आलिंगन मे जगड़कर हँसने लगी । उसकी समस्त भय व व्याकुलता दूर हो गई और वह निश्चिन्त मन के साथ अपने खेल में जुट गई ।

हे मानव, त्रितापहारी हरि भी उसी प्रकार बीच बीच में भयानक माया का मुखौटा पहनकर डराते रहते हैं । उस समय तुम स्वयं को दु:ख-दुर्दशा से ग्रस्त समझकर अतीव चिन्तित हो जाते हो । यह चिन्ता केवल अज्ञानजन्य है, इसका कारण है कि तुम अपने अन्तर में स्नेहमय हरि का हँसता हुआ मुखमण्डल नही देख पाते । बीच बीच में तुम्हारे प्राण दु:ख-कष्ट से आकुल हो जाते हैं, तुम पीड़ा से विचलित हो जाते हो, तथापि प्राण त्यागना क्यों नहीं चाहते? इसका कारण यह है कि बीच बीच में कौतुकप्रिय हरि 'बाघ का मुखौटा' हटा देते हैं, रुद्रमूर्ति को त्यागकर दक्षिणामूर्ति प्रकट करते हैं और तुम्हारे प्राण-मन को पुलकित करके तुम्हें चिरकाल के लिये बाँध रखते हैं । इसी का नाम माया है । इसीलिये श्री कृष्णद्वैपायन व्यास कहते हैं – **हास्यो जनोन्मादकरा च माया** – अर्थात् उनकी निखिल-भुवन-जगमोहिनी मधुर हँसी ही माया है । शिशु के प्रफुल्ल मुखमण्डल पर खेलता मधुमय हास किस पिता-माता का चित्त आनन्दोन्मत्त नही कर देगा? युवती नारी के अधरों पर थिरकती मुस्कान किस युवक के हृदय को विक्षिप्त नहीं करेगी? यदि पार्थिव सौन्दर्य में ही ऐसी शक्ति हो, तो नि:सन्देह ईश्वर का स्वर्गीय सौन्दर्य इससे भी अनन्तगुना शक्तिशाली होगा ।

प्राचीन ऋषिगण उनके माधुर्य का निरन्तर आभास पाते थे, भीषण रुद्रमूर्ति के अन्तराल में उनकी मनोहर, प्रफुल्ल, नित्यस्नेहमय, परम मधुर मूर्ति का साक्षात् करना चाहते थे और अन्तत: सफल भी होते थे । विश्वनियन्ता के चरणों में वे निरन्तर प्रार्थना करते थे –

मधु वाता ऋतायते । मधु क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः । मधु नक्तमुतोषसि । मुधमत पार्थिवं रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता । मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमां अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः ।[६]

– अर्थात् हे विश्वविधाता, जैसे वायु माधुर्य का वर्षण करते हुए प्रवाहित हो रही है, सागर तथा नदियाँ जैसे माधुर्य का क्षरण कर रही हैं, उसी प्रकार धान-जौ आदि सुफल उत्पन्न कर हमारे बीच माधुर्य फैलाएँ, रात्रि व उषाकाल मधुमय हों, पृथ्वी की धूलि मधुमय हो, उच्च तथा महिमामय आकाश पिता के समान हम पर मधु का वर्षण करता रहे, बड़े बड़े वृक्ष विभिन्न फलों से सुशोभित होकर हमारे लिये मधुमय हों, सूर्यदेव मधु का विकिरण करते रहें, हमारी गायें मधुमय दुग्ध प्रदान करती रहें ।

मनुष्य स्वभाव से ही आनन्दमय है, इसीलिये आनन्द की आशा में वह परमानन्द विराट् पुरुष की शरण लेता है । आप पूछ सकते हैं कि स्वभाव से ही आनन्दमय में निरानन्द कहाँ से आता है? यह सत्य है कि आलोक के सामने अन्धकार नहीं टिक सकता, पर जैसे नेत्रहीनता के दोष से आलोक भी अँधेरा -सा प्रतीत होता है, वैसे ही अज्ञान के दोष से आनन्दमय पुरुष भी स्वयं को निरानन्द समझता है । अज्ञानवश वैसी भ्रम -बुद्धि उत्पन्न होने पर भी, इससे वस्तुशक्ति में कोई ह्रास नहीं होता; आनन्दमय आनन्दमय ही रहते हैं, रज्जु रज्जु ही रहता है, सर्प के जैसा प्रतीत होने से ही कभी सर्प नहीं बन जाता ।

परन्तु यह भी स्वीकार करना होगा कि जब तक मानव मन अज्ञान से आवृत्त रहेगा, तब तक उसे निरन्तर स्व-स्वरूप की

४. कठोपनिषद्, २/६

५. श्रीमद्भागवतम्, २/१/३१ ६. तैत्तिरीय आरण्यक, १०/३९

उपलब्धि के प्रयास में लगे रहना होगा, वह एक क्षण के लिये भी शान्त नहीं रह सकेगा । इस अशान्ति का नाम ही जीवन है । जिस व्यक्ति का यह प्राण-स्पन्दन अतिशय सबल है, वह शीघ्र ही अपने नित्यत्व तथा आनन्दमयता की उपलब्धि कर कृतकृत्य हो जायेगा । जिसका प्राण-स्पन्दन दुर्बल है, वह अज्ञानशक्ति से अभिभूत है, अत: वह अपने को तमसाच्छन्न हृदय में कभी स्व-स्वरूप को प्रतिबिम्बित नहीं देख सकेगा । रजस् के बल से तमस् को दूर करना होगा और अन्तत: इन दोनों का परित्याग कर शुद्ध सत्त्वालोक में अपनी पूर्णता का अनुभूति कर जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि रूपी संसार के हाथ से छुटकारा पाना होगा । यही एकमात्र पथ है – **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**[७] – इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं । तमसाच्छन्न मानव त्रिविध ताप के हाथों का खिलौना है । उसी के ऊपर त्रिताप का आधिपत्य क्यों होता है? इसका कारण, हम पहले जो कह आये हैं, उसका स्मरण करने से सहज ही समझ में आ जायेगा । पूर्ण अज्ञान के प्रभाव से अपने को अपूर्ण समझता है । अत: राजा यदि स्वयं को भिक्षुक समझकर उसी के समान आचार-व्यवहार करे, तो जैसे उसके कष्ट की सीमा नहीं रहती, वैसे ही सच्चिदानन्द-स्वरूप मानव भी अपने को जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-ग्रस्त मानकर असीम कष्ट का भोग करता है । रजस् के प्रभाव से तमस् का नाश होने पर सत्त्व का उदय होता है । तब मनुष्य अपने सच्चे स्वरूप को जानकर परमानन्द की अनुभूति करता है । तब विराट् पुरुष बाघ का मुखौटा पहनकर उसे भयभीत नहीं करते । तब सम्पूर्ण जगत् उसे मधुमय प्रतीत होता है ।

दु:ख ही तामसिक लोगों का परम मित्र है । दु:ख से प्रताड़ित होकर वह उससे निवृत्ति के उपाय की खोज में मन लगाता है । वह ऐसे व्यक्ति की तलाश में लग जाता है, जिसकी कृपा से उसे इस पीड़ा से छुटकारा मिल सके । जैसे अन्धा नेत्रवान की सहायता के बिना अपना मार्ग ढूँढ़ने में असमर्थ होता है, वैसे ही वह भी अपने को नितान्त दुर्बल व असहाय समझकर किसी बलवान महापुरुष के श्री चरण मे आश्रय पाने का प्रयास करता है । जैसे भूख मनुष्य को भोजन की तलाश में लगाती है, प्यास जैसे उसे जल के अन्वेषण में लगाती है, गरीबी जैसे उसे धन की तलाश में लगाती है, वैसे ही त्रिताप उसे सुख-शान्ति की खोज में प्रवृत्त करते हैं । यह भी देखने में आता है कि अभाव के साथ-ही-साथ अभावनाशक वस्तुएँ भी जगत् में सर्वत्र बिखरी हुई हैं । भूख के साथ भोजन, प्यास के साथ जल, दारिद्र्य के साथ धन-धान्य और दु:ख के साथ सुख भी सर्वदा सर्वत्र विद्यमान रहते हैं । अभाव होते ही भाव आकर उसके स्थान पर अधिकार जमा लेता है । यही प्रकृति का नियम है । वायु जब गर्मी से हल्की होकर ऊपर उठ जाती है और नीचे अभाव की सृष्टि करती है, तो तुरन्त चारों ओर से हवा आकर उस अभाव को पूरा करने का प्रयास करती है । इसी से बड़े बड़े झंझावत की सृष्टि होती है । अतएव कोई अभाव होते ही तत्काल उसका समाधान भी आ पहुँचता है, यह सबके अनुभव की बात है । जैसा जड़ जगत् में है, वैसा ही आध्यात्मिक जगत् में भी होता है । आध्यात्मिक जगत् के सन्दर्भ में इस पर विचार करने से इसकी और भी अच्छी धारणा हो जायेगी ।

अति प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में ज्ञान तथा कर्म दोनों मार्गों को समुचित सम्मान दिया जाता था । कर्मकाण्ड या ज्ञानकाण्ड – दोनों में ही प्रवेश पाने के लिये अधिकारी होना आवश्यक था । धर्म या कर्तव्यपालन ही कर्मकाण्ड में प्रवेश का द्वार है और पूर्णत: निष्काम होकर इन्द्रिय-संयम ही ज्ञान-काण्ड में प्रवेश का द्वार है – इस बात को सब लोग स्वीकार करते थे और तदनुसार कर्म या ज्ञान में प्रवेश का अधिकार अर्जित करते थे । सभी जानते हैं कि कर्तव्य-पालन कामना-त्याग की अपेक्षा काफी सहज-साध्य है । मनुष्य ने कामना के साथ जन्म लिया है और अनादि काल से उसे अपने हृदय में स्थान देता आ रहा है; अत: कामनाशून्य होना क्या कभी उसके लिये सम्भव हो सकता है? कामना पर ही संसार टिका है । कामना की पूर्ति से ही उसे परम आनन्द मिलता है । भले ही कामना उसके चित्त को चंचल करती है, तो भी क्या हुआ । चंचलता तो चित्त का धर्म या स्वभाव ही है । सामान्य लोगों की धारणा है कि स्वभावसिद्ध कर्म से दु:ख नहीं होता, अस्वाभाविक कर्म ही दु:ख का कारण है; अत: कामना दु:खजनक नहीं अपितु सुखदायी है । स्वर्गसुख प्राप्त करना ही उसका चरम लक्ष्य हो जाता है । जैमिनीय स्मृति कहती है –

यन्न दु:खेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतञ्च तत्सुखं स्व:पदास्पदम् ।।

– स्वर्ग-सुख उसे कहते हैं, जो दु:ख से पूर्णत: मुक्त है, जो भविष्य में भी कभी दु:ख से ग्रस्त न होगा, जो कामना की सर्वोच्च परिपूर्ति है ।

स्वर्गकामो यजेत[८] – उसी स्वर्ग की कामना से मनुष्य याग-यज्ञादि का अनुष्ठान करते हैं ।

यही कर्मकाण्ड का मुख्य उद्देश्य है । सुखप्रिय मानव इससे बढ़कर और कुछ नहीं चाहता ।

परन्तु यह सुखकर होने पर भी सर्वप्रकार से सुखकर नहीं होता, क्योकि यह संस्पर्शजन्य है । अत: सुख की सामग्री बाहर रहने के कारण वह सर्वदा पूर्णरूप से किसी के अधीन

७. ऋग्वेद, १०/९०/१७

८. तैत्तिरीय संहिता, २/५/५

नही रहता । इधर मनुष्य की सुखलिप्सा का कहीं अन्त नहीं, परन्तु संस्पर्शजनित सुख आदि-अन्तवान हैं; ऐसे सुख से क्या उसकी अनन्त पिपासा मिट सकती है? उस पिपासा को मिटाने के लिये अविच्छिन्न सुख की जरूरत है, उसके सुख की सामग्री बाहर रहने से काम नही चलेगा, अपने भीतर ही उसकी उपलब्धि करनी होगी, अर्थात् आत्माराम हुए विना नित्य सुख का अधिकारी नहीं हुआ जा सकता । गीता में भगवान ने इसे सुन्दर ढंग से समझा दिया है । आत्माराम होने के लिये वासनाओं का त्याग करना होगा, क्योंकि कामना बाह्य वस्तुओं की ही होती है । निरविच्छिन्न सुख का अधिकारी होने के लिए बाह्य सम्बन्ध त्यागना होगा, इसके बिना अभाव नहीं मिटेगा और अभाव रहने पर दु:ख भी दूर नही होंगे । अत: वासनात्याग ही परमानन्द-प्राप्ति का एकमात्र उपाय है । साधारण मनुष्य इसकी धारणा करने मे सक्षम नही है । सुख की सामग्री के बिना सुख-प्राप्ति उसकी समझ के परे है । इसीलिए अधिकांश लोगों की कर्मकाण्ड में ही रुचि होती है ।

कर्ममय मनुष्य सर्वदा ही कर्म के वशीभूत रहता है । अतएव यद्यपि आजकल वेदोक्त याग-यज्ञों का प्राचीन काल के समान सर्वत्र प्रचार नहीं है, तथापि मानव समाज में कर्म की महत्ता को घटाया नही जा सकता । काल के साथ ही कर्मकाण्ड भी अक्षुण्ण भाव से चला आ रहा है और चलता रहेगा । तो भी कर्म के रूप में परिवर्तन हो सकता है । पुराकाल में परम पवित्र द्युतिमान अग्नि को वेदी पर प्रज्ज्वलित कर उसमें 'स्वाहा, स्वधा' आदि मंत्रों के साथ देवपितृगण को हव्य-कव्य समर्पित करते हुए उनकी पूजा का अनुष्ठान किया जाता था और आजकल सर्वत्र विविध प्रकार के मन्दिर बनाकर उनमें विभिन्न देवी-देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित कर उनकी गन्ध-पुष्प-धूप-दीप-नैवेद्य आदि के साथ पूजा हो रही है । समाज की अभिरुचि के अनुसार कर्म के रूप एवं गति में भी परिवर्तन आता है, इसीलिये वैदिक काल के कर्मकाण्ड अब प्राय: देखने में नहीं आते । वर्तमान रीति ही वर्तमान काल के लिये उपयोगी है । कर्म का उद्देश्य एक होने पर भी कालभेद से पथ अनेक हो गये हैं ।

परन्तु ज्ञानकाण्ड में कोई परिवर्तन नहीं आया है, क्योंकि यथार्थ ज्ञान नित्य ही एकरूप रहता है । यूक्लिड के स्वत:सिद्ध प्रमाण करोड़ों वर्ष पूर्व जैसे सत्य थे, करोड़ो वर्ष बाद भी वैसे ही सत्य रहेंगे । एक सौ आठ उपनिषद् भी जैसे पहले विद्यमान थे, वैसे ही अब भी हैं और भविष्य में भी रहेंगे । उन सबका एकमत से कहना है – **त्यागेनैके अमृतत्त्वमानशु:**[१] – महात्माओं ने त्याग के द्वारा ही जन्म-मृत्यु को पारकर अमृतत्व की उपलब्धि की थी । त्याग ही मनुष्य के अभाव-रूपी भ्रम को दूरकर उसे परमानन्द का अधिकारी बनाने में सक्षम है ।

हमारे उपरोक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि पृथ्वी पर ज्ञानमार्ग के पथिक अति विरल हैं । जिनमें कर्म-वासना बलवती है, वे यदि उक्त पथ पर चलने का प्रयास करें, तो वह अनधिकार चेष्टा होगी और इसमें सन्देह नहीं कि इससे उनकी तथा समाज की विशेष क्षति होगी ।

हम पहले ही कह आए हैं कि कर्मकाण्ड का मूल धर्म या कर्तव्यपालन है; अत: जो कर्तव्यपालन से विमुख है, उनका कर्म में अधिकार नहीं है । कर्तव्य-परायण लोग सक्षम होने के कारण अपनी इन्द्रियों पर भी किंचित परिणाम में विजय प्राप्त कर चुके हैं । इन्द्रियों द्वारा परिचालित व्यक्ति सतत् स्वेच्छाचारी होता है । किसी काल में पुरोहित तथा यजमान इन्द्रियों के वशवर्ती हो गये थे । यज्ञ का भार उन्हीं के हाथों में था, अत: उन लोगों ने अपनी उदरपूर्ति तथा इन्द्रिय-तुष्टि के लिये अत्यधिक मद्य-मांसमय हिंसासाध्य यज्ञों की सृष्टि की तथा उसे वेदोक्त कहकर जनसमाज में प्रचारित किया । धर्ममूला वेदमाता मानो अपनी छाया को मानव-समाज में स्थापित करके स्वयं लज्जित हो हिमालय की कन्दरा में छिप गई । इसी छाया-श्रुति को आधार बनाकर वेदोक्त देवी-देवताओं के नाम पर पुरोहित-कुल भारत का वक्ष पशुरक्त से कलंकित करने लगे । कर्म-ज्ञानमय वेद सर्वत्र लुप्त हो गया । दुर्नीति, पशुभाव, हिंसा, द्वेष ने इस देश को वन्यपशुओं की निवास-भूमि बना दी । सर्वत्र ही सात्त्विक आचार, दया, करुणा, उदारता आदि का अभाव दिखने लगा ।

हमने पहले ही देखा कि अभाव होने से उसकी पूर्ति भी होती है । उसी स्वाभाविक नियमानुसार सत्त्वगुण, दया, करुणा, उदारता आदि ने हिमालय अंचल में सर्वार्थ-सिद्ध बुद्ध के नाम से सजीव मूर्ति धारण किया । जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दु:ख-दोषमय जीवन के ऊपर से विश्वास खोकर युवावस्था में ही वे भिक्षु-संन्यासी हो गये । आखिरकार उन्होंने दु:ख-क्लेशशून्य शान्तिधाम का पथ ढूँढ़ निकाला और त्रितापदग्ध मानवजाति को उस पर परिचालित कर उन्होंने आचाण्डाल सबको अमृत का अधिकारी बनाया । उनके सुविशाल हृदय में आब्रह्मस्तम्ब तक समस्त जीवों के लिये समभाव से स्थान मिला । छायाश्रुति की विभीषिकामयी मूर्ति और यज्ञकर्ताओं के कपोलकल्पित राक्षसतुल्य जगत्कर्ता – दोनों ही उनकी दृष्टि में हेय प्रतीत हुए । जो जगत्कर्ता दुर्नीति, पशु-आचार, हिंसा, द्वेष आदि के पृष्ठपोषक-स्वरूप हैं, वे क्या कभी जगत्कर्ता का वास्तविक आसन ग्रहण कर सकेंगे? अतएव उन्होंने तत्कालीन श्रुति और ईश्वर दोनों को निर्वासित कर सत्कर्म की पूजा का प्रचार किया । शुभाशुभ कर्म शुभाशुभ फल को जन्म देता है; अत:

१. कैवल्योपनिषद्, २

हे मानव, शुभ कर्मों का ही अनुष्ठान करो, तो सुखपूर्वक रह सकोगे । अज्ञानी लोग बुद्ध को नास्तिक कहते हैं, क्योंकि उन्होंने ईश्वर को नहीं माना । वे जिस ईश्वर को नहीं मानते थे, उस ईश्वर को न मानना ही अच्छा है । वैसे ईश्वर को मानकर आस्तिक होने की अपेक्षा नास्तिक होना हजारों गुना अच्छा है, इससे समस्त पाठकगण सहमत होंगे ।

बुद्धदेव क्या वास्तव में नास्तिक थे? उनके समान ईश्वर-परायण आस्तिक जगत् में दुर्लभ है, क्योंकि कर्ता के बिना कर्म कहीं दिखाई नहीं देता । उन्होंने सुकर्म को माना है, अत: उसके साथ सत्कर्ता को भी मानना हो गया । ईश्वर ही हेय गुणों से हीन सर्व-कल्याण-गुण-समन्वित सत्कर्ता हैं । अतएव बुद्ध को हम भला किस प्रकार नास्तिक कह सकते हैं?

उनका सर्वतोमुखी उदार हृदय समभाव से समस्त जीवकुल के परम मंगल हेतु सर्वदा जागरूक रहता था । अतएव अनधिकारी ढूँढ़ना उनके लिये एक तरह से असम्भव-सा हो गया था । उन्होंने साधु-असाधु, बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, धनी-गरीब, पण्डित-मूर्ख सबको निर्वाण पथ का पथिक बनाया । परन्तु जैसे कोई पेट का रोगी प्रचुर घी में पके अन्न को पचाने में सक्षम नहीं होता, वैसे ही अनधिकारीगण उनके महामूल्य उपदेशों के भाव हृदयंगम करने में विफल रहे । इस कारण उनका परम पवित्र आस्तिक-धर्म नास्तिकता एवं शून्यवाद में परिणत हुआ । "सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म सभी मिथ्या है । जगत् का सृष्टिकर्ता कोई भी नहीं हैं, अत: किसका भय करेंगे?" – ऐसी धारणा के वशीभूत होकर बौद्धगण यथेच्छाचार में प्रवृत्त हुए । जगत् में पुन: सुख-शान्ति का अभाव हो गया । पृथ्वी बौद्ध-असुरों के भार से पीड़ित होने लगीं । अत: जगत् के दु:खों को दूर करने के लिये मंगलमय विधाता श्रीशंकर का नाम लेकर लोकगुरु के रूप में पुन: अवतरित हुए ।

भगवान शंकराचार्य १६ वर्ष के युवक मात्र थे । पर जैसे उदीयमान सूर्य के समक्ष जगत् की तमोराशि कभी ठहर नहीं पाती, वैसे ही दिव्य प्रतिभा-सम्पन्न इन परम मनोहर तेजस्वी युवक के समक्ष नास्तिकता, यथेच्छाचार आदि कुछ भी न टिक सके । दिन होने पर तारों की जैसी अवस्था होती है, वैसे ही बौद्ध भी भारत गगन से चिर दिन के लिये डूब गये । चारों दिशाएँ निर्मल ज्ञानालोक से उद्भासित हो उठीं । आर्यभूमि पर पुन: शान्ति का राज्य स्थापित हो गया । धर्मजननी श्रुतिदेवी ने हिमालय की गुफा से निकलकर उन दिव्यकान्ति नवीन संन्यासी के कण्ठ में वरमाला डालकर उन्हें पति रूप में वरण किया । श्रुतिनाथ शंकर ने अधिकारी-निर्वाचन में अग्रसर होकर पुन: वेदमार्ग को प्रकट किया । हिमालय से कन्याकुमारी तक सर्वत्र सनातन-धर्म की जयपताका लहराने लगी । देव-पितृगण पुन: स्वाहा-स्वधा मंत्र से तर्पित होने लगे । दीर्घ काल से सुप्त, विज्ञानविग्रह ऋषिगण उपनिषदों के पवित्र ध्वनि से फिर जाग्रत हो उठे । भारतमाता के आनन्द की अब सीमा न रही ।

बत्तीस वर्ष की आयु में अपना कार्य पूरा कर लेने के बाद शिवमूर्ति शंकर ने अपने परमधाम को प्रस्थान किया ! काल, एक ओर जैसे सुन्दर सुन्दर नवीन वस्तुओं को लाकर चित्त को हृष्ट एवं आकृष्ट करता है, दूसरी ओर वैसे ही उस चित्ताह्लादकारी पदार्थ को छिन्न-विच्छिन्न करके उसे हेय से भी हेय बना देता है । काल का यही धर्म है । फिर इसी कालधर्म के अनुसार शंकर-कथित चारों वेदों के सार चार महावाक्यो का गलत अर्थ लगाकर उनके अनेक इन्द्रियपरक संन्यासी-वेशधारी अनुयाइयों ने अपना तथा समाज का काफी अमंगल किया ।

'अहं ब्रह्मास्मि'[१०] वाक्य के द्वारा उन लोगों ने इस साढ़े तीन हाथ के सप्तधातुमय, विष्ठामूत्रवाही, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि के आगार, संकीर्णदृष्टि, नश्वरजीवन, अतात-भविष्य के विषय में अज्ञानी तथा अल्पबुद्धि मनुष्य को ही अनादि, अनन्त, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वाश्रय, परमानन्दमय, अच्युत ब्रह्म निर्धारित किया ।

जैसे पद्मपत्र को जल स्पर्श नहीं कर सकता, वैसे ही ब्रह्मवस्तु से पुण्य-पाप, आचार-अनाचार, सत्य-मिथ्या आदि कुछ भी युक्त नहीं हो सकता । मैं ही ब्रह्म हूँ – मैं चाहे जो भी करूँ, मुझ पर कोई दाग नहीं लग सकता । इससे बढ़कर पैशाचिक सिद्धान्त और क्या हो सकता है? यह सहज ही समझा जा सकता है कि ऐसी धारणा के वशवर्ती लोग शीघ्र ही अपने तथा स्वदेश के सर्वनाश के कारण हुए । वस्तुत: शंकर द्वारा प्रतिपादित परम निर्मल धर्म की धारणा करने में असमर्थ होकर स्व-कपोलकल्पित दुरर्थकारियों ने भारतवर्ष में पुन: दुर्नीति, हिंसा, द्वेष, असत्य आदि का राज्य स्थापित कर दिया । सर्वत्र ही सुख, शान्ति तथा सत्य का अभाव दृष्टिगोचर होने लगा । हे पाठक, इसी अभाव को दूर करने के लिये जो महापुरुष अवतरित हुए, आइए अब हम उन्हीं विशिष्टाद्वैतवाद के प्रचारक भगवान श्री रामानुजाचार्य के निर्मल जीवनचरित की चर्चा में अग्रसर हों । इस भावराज्य में अभाव वस्तु का अस्तित्व नहीं रह सकता । सुख, शान्ति, सत्य, करुणा, धर्म आदि भाव वस्तु हैं और दु:ख, अशान्ति, मिथ्या, हिंसा, संकीर्णता, ईर्ष्या, द्वेष, अधर्म आदि अभाव वस्तु हैं । जिनके न रहने पर मनुष्य को कष्ट होता है, वही भाव पदार्थ है । अतएव सुख-शान्ति आदि भाव वस्तु हैं, और उनका अभाव दु:ख-अशान्ति आदि अभाव वस्तु हैं । हम पहले ही प्रमाणित कर चुके हैं कि अभाव होते ही भाव आकर उसका समाधान करता है । इसी नियम के अनुसार भारतभूमि पर श्री रामानुजाचार्य का आविर्भाव हुआ । ❖ (क्रमश:) ❖

---

१०. बृहदारण्यक उपनिषद्, १/४/१०

सच्चे सुख की खोज

स्वामी सत्यरूपानन्द

यदि कोई हमसे पूछे कि हम क्या चाहते हैं? यदि हम उसे विस्तार से बतायें कि हम क्या चाहते हैं, तो वह हमारी इच्छा पूरी कर देगा; तो हम सभी लोग अपनी अपनी रुचि के अनुसार एक लम्बी सूची पूछनेवाले के हाथों में थमा देंगे।

हम बहुत प्रकार की चीजें चाहते हैं। हम बहुत कुछ होना चाहते हैं। बनना चाहते हैं। यदि हम थोड़ा विचार करके देखें कि सब कुछ पाने या होने और बनने की इच्छा के पीछे हमारी प्रेरणा क्या है? हम वस्तुतः चाहते क्या हैं? विचार करने पर हम पायेंगे कि हम न तो वस्तु चाहते हैं, न धन-दौलत चाहते हैं, न व्यक्ति चाहते हैं, न नाम-यश आदि चाहते हैं। हम वस्तुतः 'सुख' चाहते हैं तथा हमें विश्वास रहता है कि वस्तु, व्यक्ति, धन, मान आदि मिलने पर हमें सुख मिलेगा। इसलिये हम उन चीजों को चाहते हैं।

हम कैसा सुख चाहते हैं? जो कभी कम न हो। सदैव बना रहे। दूसरे शब्दों में हम अनत सुख चाहते हैं। अनन्त सुख भोगने के लिए हमें, सुख-भोक्ता को अनत काल तक जीवित रहना आवश्यक है। अर्थात हम अमर रहें। मान लीजिये हमें अनन्त सुख मिला, हम अमर भी हो गये किंतु यदि हमें उस सुख का, अपने अमर होने का ज्ञान न हो, उसका अनुभव न हो तो भी हमारे लिये वह व्यर्थ हो जायेगा। इसलिये हम अनत ज्ञान भी चाहते हैं। यदि हमें अपने अनंत सुख और अमरता की अनुभूति न हो तो हम दुखी हो जायेंगे। हमें सुख की अनुभूति अवश्य होनी चाहिये।

इस विश्लेषण से यही सिद्ध हुआ कि हम अनंत सुख अनत ज्ञान और अनत जीवन चाहते हैं। वेदान्त दर्शन हमें बताता है कि यह सब, अनंत ज्ञान, अनत जीवन, अनंत सुख हमारे भीतर ही है। वह हमारा मूल स्वरूप ही है। वेदान्त की भाषा में उसे सत्-चित्-आनद कहते हैं।

प्रश्न उठता है यदि सत्-चित्-आनन्द हमारा स्वरूप है तो हमें उसकी अनुभूति क्यों नहीं होती? हमें उसकी अनुभूति इसलिए नहीं होती, क्योंकि हम उसे अपने भीतर न ढूँढ़ कर बाहर ढूँढ़ते फिरते हैं। हम अपने भीतर कभी नहीं झाँकते। भीतर कभी नहीं ढूँढ़ते। इसलिये हमारे भीतर रहते हुए भी हम उस सुख से वंचित हैं।

इस अनंत सुख को पाने की पहली शर्त यह है कि हम बाहर से दृष्टि हटा कर अपने भीतर, अपने हृदय में दृष्टि डालें। आत्म-निरीक्षण करें। अपने गुण-दोषों से परिचित हों। अपने दोषों को जानकर उन्हें दूर करें। अनावश्यक तथा अनुचित आदतों को छोड़ें। बाहर भटकना बद करें। उसी प्रकार अपने गुणों को भी पहचानें। उनका विकास करें। जिन गुणों की हममें कमी हो उसे अर्जित करें। ऐसा करने पर हम देखेंगे कि हमारे व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास होता जा रहा है। हमारे अतःकरण में सोई हुई शक्तियाँ जागने लगी हैं। जिस सुख की आशा में हम आज तक बाहर भटक रहे थे उस सुख का झरना हमारे हृदय में फूट रहा है। हमारी व्यर्थ की इच्छायें, निरर्थक बाहर भटकना अपने आप छूटता जा रहा है। अनायास हमारे भीतर असीम सुख और अखड शांति का स्फुरण हो रहा है।

मित्रो, हमें यह ठीक से समझ लेना होगा कि हम जो कुछ भी चाहते हैं वह सब हमारे भीतर ही है। अपने अज्ञान के कारण हम उसे भूल गये हैं तथा व्यर्थ ही उसे बाहर ढूँढ़ते फिर रहे हैं। जब तक हम उसे बाहर ढूँढ़ते रहेंगे वह हमें कभी नहीं मिलेगा। उल्टे हम उससे अधिक अधकार में ही भटकते रह जायेंगे। परिणामस्वरूप हमारे मन में भयंकर अशांति और दुख व्याप्त हो जायेगा।

शांति का आगार हमारे भीतर है। भीतर की ओर मुड़ें। भीतर अपने आप में डुबकी लगायें और हम पायेंगे कि हम स्वय ही आनंद स्वरूप हैं। ❑
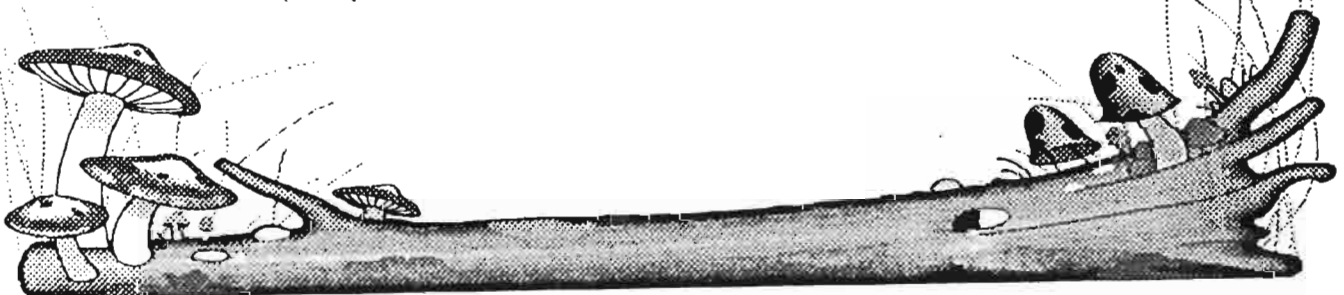
जीना सीखो (६)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं । उन्होंने ने युवकों को जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई । हाल ही में उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है । इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं । दिल्ली के डॉ. कृष्ण मुरारी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है । – सं.)

विचारों की शक्ति

यह बात स्पष्ट है कि विचार तथा भाव मनुष्य के जीवन को प्रभावित करनेवाले दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्त्व हैं । प्रगति-पथ पर चलने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को विचारों की इस महाशक्ति को समझ लेना चाहिए । भय तथा शंका के साथ किये गये कर्म से प्राय: उल्टा फल होता है; आत्मविश्वास तथा आशा सहित किया गया कर्म शुभ फल देता है ।

मानसिक शक्ति के विषय में एक प्रमाणित नियम है – 'जो जैसा है, वह वैसे को ही आकृष्ट करता है, वैसा ही पाता है तथा वैसा ही बन जाता है ।'' अर्थात् भले विचार हमें अच्छे व्यक्तियों तथा जीवन की अच्छी वस्तुओं की ओर ले जाते हैं, और कुविचार बुरे लोगों तथा बुरी वस्तुओं की ओर ।

आधुनिक अनुसन्धान के द्वारा सत्यापित होनेवाले इस सत्य को लगभग २५०० वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध ने बताया था – ''आज हम जो कुछ हैं, अपने विचारों के फलस्वरूप हैं । हमारी वर्तमान अवस्था का आधार हमारे विचार हैं । जिनके वचन तथा कर्म सुविचारों से प्रेरित होते हैं, सुख उनके पीछे छाया के समान चलता है । यदि कोई कुविचारों को प्रश्रय देकर उन्हीं के अनुसार कर्म करे, तो दु:ख उसके पीछे वैसे ही चलते हैं, जैसे रथ के पहिए घोड़ों के पीछे ।'' भगवान बुद्ध की यह महान् उक्ति एक सनातन सत्य को व्यक्त करते हुए विचारों की महान् शक्ति को दर्शाती है ।

अब तक हम भले ही असंख्य दुर्बल तथा अनुचित विचारों में लिप्त रहे हों । परन्तु यदि प्रगति-पथ पर चलना हो, तो हमें तत्काल क्रमश: भले विचारों को अपना कर अपने जीवन को श्रेष्ठ बनाने में लग जाना चाहिए । यदि हमारा शरीर मैला हो जाय, तो चीखने से नहीं, बल्कि स्नान करने से ही वह स्वच्छ होगा । हमे भले विचार ग्रहण करके, उन पर मनन करते रहना होगा । इससे बुरे विचार धीरे धीरे हमें छोड़ जायेंगे । इस दिशा में ऐसे महापुरुषों के जीवन के सन्देशों पर चिन्तन करना बड़ा लाभकारी होगा, जो सभी प्रकार के अहंकारों से मुक्त थे तथा सत्य के अन्वेषक थे ।

विचारों के वास्तविक स्वरूप के विषय में कुछ बातें इस प्रकार हैं – ''यदि तुम्हारे मन में एक बार कोई विचार उठे, तो उसके दुबारा उठने की भी काफी सम्भावना है । यदि कोई एक विचार को ५, १० या २० बार दुहराये, तो वह मन का एक अंग बन जाता है । भले ही हम इसे चेष्टापूर्वक याद न रखें, पर यह मन की गहराइयों में बना रहता है । मन में निहित प्रबल विचार न केवल तुम्हारे, अपितु तुम्हारे समीप के लोगों पर भी प्रभाव डालता है । विचार इतने शक्तिशाली होते हैं कि यदि तुम किसी का बुरा चाहो, तो वह भी अनजाने में तुम्हारा बुरा सोच सकता है । यदि तुम दूसरों का भला सोचो, तो वे भी तुम्हारा भला ही सोचेंगे ।''

श्री अरविन्द कहते हैं – ''भाव तथा विचार, तरंगों या किसी अन्य रूप में किसी ऐसे मन की खोज में विचरते रहते हैं, जो उन्हें धारण कर सके । मैंने मन में बाहर से विचारों के घुसने की बात पहले कभी नहीं सुनी थी, परन्तु मुझे कभी इसकी सत्यता या सम्भावना के बारे में कोई संशय भी नहीं हुआ था । मेरे बैठते ही यह होने लगा । क्षण भर में ही मेरा मन पर्वत-शिखर की तरंगहीन वायु के समान हो गया और तब मैंने एक के बाद एक विचारों को बाहर से साकार रूप में आते देखा । उनके मस्तिष्क में पैठने के पूर्व ही मैंने उन्हें भगा दिया और तीन दिनों में मैं उनसे मुक्त हो चुका था ।''

उत्साह तथा रुचिपूर्वक दूसरों के दोष देखने से तुम्हारा मन भी बुरे विचारों से भर जायेगा । वह एक ऐसा कूड़ादान बन जायेगा, जिसमें दूसरों के कचरे भरे रहेंगे । कहते हैं कि ईश्वर का ध्यान करने से उनकी प्राप्ति होती है । दूसरों के दोषों पर ध्यान देने से हमें उन्हीं दुर्गुणों की प्राप्ति होगी । माँ श्री सारदा देवी ने लोगों की यह प्रवृत्ति देखी और अपने अन्तिम उपदेश में कहा था, ''यदि शान्ति चाहते हो बेटा, तो दूसरों के दोष मत देखो, बल्कि अपने ही दोष देखो । सारे संसार को अपना बना लो, यहाँ कोई भी पराया नहीं है ।''

मन में कैसे विचारों को आने दें और कैसे विचारों को न आने दें – इस पर सोचने से कोई लाभ नहीं । रात को सोने के पूर्व हमें इस विषय में विशेष रूप से सतर्क रहना होगा कि उस समय हमारे मन में कैसे विचार हैं । हमारा चेतन मन उस समय निद्रालु होता है और हमारे अचेतन मन में भले-बुरे का विवेक नहीं होता । उसमें जो आता है, उसके साथ अपनी ओर से कुछ जोड़कर आवश्यकतानुसार चेतन मन को दे देता है । कम्प्यूटर में गलत ऑकड़े भरने के समान यदि तुम अपने मन को क्रोध, घृणा या किसी अन्य बुरे विचार से भर लो, तो निश्चय ही तुम्हारी नींद हराम होगी । फिर नींद खुलने पर वह

दूषित मन तुम्हें ऐसे बुरे कर्मों में प्रवृत्त करेगा, जो तुम्हारे व्यक्तित्व को मलिन कर देंगे। इसीलिए सुप्रसिद्ध लेखक विक्टर ह्यूगो का कहना है, "सोने के लिए भली आशाओं, प्रेम तथा क्षमा का तकिया बनाओ, तब तुम सुबह बड़े आनन्द तथा प्रसन्नता के साथ उठोगे।"

याद रहे, तुम्हारे मन में चित्रगुप्त बैठे हुए हैं।

अभ्यास का चमत्कार

सेमुएल स्माइल्स ने 'स्व-सहायता' (सेल्फ हेल्प) नामक अपनी पुस्तक में रॉबर्ट पील का एक रोचक उदाहरण दिया है। पील के पिता उसे व्याख्यान-कला में निपुण बनाना चाहते थे। बालक राबर्ट पील को प्राय: ही मंच पर बुलाकर बोलने को कहा जाता। यथा, एक दिन उससे कहा गया कि कल उसने चर्च में जो कुछ सुना, वही बताये। आरम्भ में कोई प्रगति देखने में नहीं आई। परन्तु धीरे धीरे उसने ध्यान तथा एकाग्रता की असाधारण शक्ति विकसित कर ली। वह लम्बे लम्बे व्याख्यान, बिना किसी चिट की सहायता लिए, यथावत् दुहरा सकता था। बाद में जब वह संसद में अनेक प्रश्नों के उत्तर बिल्कुल सही क्रम में देता, तो लोग उसकी असाधारण स्मरणशक्ति पर चकित रह जाते। पर अधिकांश लोगों को यह ज्ञात नहीं था कि उसने अपने पिता के अनुरोध पर बाल्यकाल से ही बड़े प्रयासपूर्वक यह क्षमता विकसित की थी।

पठन-पाठन की कला विकसित होने के पूर्व ही भारतवासियों ने वेदों, उपनिषदों तथा हजारों काव्यों को कण्ठस्थ करने की कला विकसित कर ली थी, जिसके द्वारा भाषा तथा साहित्य के इस विशाल भण्डार को उन्होंने बिना किसी त्रुटि के आगामी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रखा। यद्यपि कण्ठस्थ करने का यह अभ्यास थोड़ा ऊबाऊ अवश्य है, पर नियमित अभ्यास द्वारा विलक्षण शक्ति की प्राप्ति का यह एक अकाट्य उदाहरण है।

नियमित प्रयास तथा अभ्यास से जो चमत्कारी शक्तियाँ तथा उपलब्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं, सर्कस में प्रशिक्षित लोगों के अद्भुत करतब इसके मूर्त उदाहरण हैं। सर्कस को देखकर किसका मन उत्साह तथा आनन्द से भरपूर नहीं हो जाता!

परन्तु केवल चाहने से ही नई आदत प्राप्त नहीं होती। इसे पोषित करने तथा सुदृढ़ बनाने के लिये अथक तथा नियमित अभ्यास की आवश्यकता होती है।

तुम्हारी आदतें ही तुम्हारा व्यक्तित्व है

जीवन के सभी क्षेत्रों में विचारों, भावनाओं तथा कर्मों की रचना से जुड़ी आदतों की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। आदतों से ही हमारा व्यक्तित्व बनता या बिगड़ता है।

यदि हम सुदीर्घ काल तक निरन्तर भला या बुरा कुछ भी करते रहें, तो इसका प्रभाव हमारे मन व स्नायुमण्डल पर इतना प्रबल होता है कि वह हमारा स्वभाव बन जाता है और वह क्रिया अनचाहे भी होने लगती है।

एक सेवानिवृत्त सैनिक बाजार से सौदों की गठरी सिर पर रखकर घर ले जा रहा था। गटरी को उसने दोनों हाथों से पकड़ रखी थी। एक शैतान लड़के ने उसे कई बार इसी प्रकार आते-जाते देखा था। उस दिन वह सैनिक जब अन्यमनस्क भाव से एक गड्ढे के पास से होकर चला जा रहा था, तो लड़के ने जोर से चिल्लाकर कहा, 'सावधान'! सुनते ही सैनिक ने सामान को छोड़कर हाथ नीचे किये और तनकर सैल्यूट की मुद्रा में खड़ा हो गया। उसके सिर पर रखी हुई गठरी गड्ढे में गिर गयी और सारा सामान बिखर गया। लड़के की शैतानी समझने के पूर्व ही यह घटना हो चुकी थी। दीर्घकाल के सैन्य-अभ्यास के कारण, एक शब्द मात्र सुनते ही उसके मन ने तत्काल सहज तथा यंत्रवत् व्यवहार किया।

बहुत-से लोग आदतों की अतीव संयमन-शक्ति के बारे में नहीं जानते। आदतें ही हमें जटिल या संकटपूर्ण परिस्थितियों में से निकलते समय अवरोध उत्पन्न करती हैं। हम प्रतिदिन अनजाने में ही अपने स्थान तथा परिवेश के साथ अनुकूलन का प्रयास करते हैं। नाश्ते के बाद सिगरेट पीने की आदतवालों को ध्यान से देखो। उस समय यदि सिगरेट न रहे, तो वे खरीदने दो कि.मी. भी पैदल चले जायेंगे। वैसे, आदतों से हमारा तात्पर्य केवल बुरी आदतों से नहीं है।

सभी प्रकार की आदतें अपनी प्रचण्ड शक्ति के द्वारा व्यक्ति को नियंत्रित करती हुई उसके व्यक्तित्व को गढ़ती हैं। हमारी उपलब्धियाँ, विचार, द्वन्द्व, रुचियाँ व सम्पत्ति, प्रेम व घृणा, क्रोध व चिन्ता, रहस्य व धोखे, गर्व व स्वाभिमान, प्रवृत्तियाँ व रुझान, कटूक्तियाँ व व्यंग्य – ये सभी ऐसी आदतें हैं, जिन्हें हमने जाने-अनजाने अपने परिवेश से एकत्र किया है। एक पुरानी दृढ़मूल आदत HABIT से मुक्त होने की कठिनाई पर अंग्रेजी में एक सूत्र है। इसके पहले अक्षर H को हटाने से A BIT (थोड़ा-सा) बचता है। उसमें से A हटा दो, तो BIT (अंश) बचेगा। फिर B हटा दो, तो IT (यह) बचता है। अब समझ में आया न कि आदत का प्रभाव कितना प्रबल होता है!

आदत से चरित्र-गठन

हमारा प्रत्येक कर्म सरोवर में एक तरंग के समान है, जो कुछ समय दिखने के बाद लुप्त हो जाती है। परन्तु हमारे विचार, भावनाएँ तथा कर्म, कुछ समय बाद लुप्त होते हुए-से प्रतीत होने पर भी मन की गहराइयों में अपना स्थाई चिह्न छोड़ जाते हैं। इन्हें संस्कृत में 'संस्कार' कहते हैं। ऐसे सैकड़ों संस्कारों से हमारे आचरण तथा चरित्र का निर्माण होता है। अँग्रेजी कहावत है – Habit is the second nature of man – आदत मनुष्य का दूसरा स्वभाव है। गहराई से सोचने

पर हम पायेंगे कि आदतें ही मनुष्य के स्वभाव का आधार हैं।

जॉन स्टुअर्ट मिल ने परिभाषा दी थी – "केवल गढ़ी हुई इच्छा ही आचरण या चरित्र है।" कर्मों को प्रेरित करनेवाले विचारों की समष्टि को ही इच्छा कहते हैं। यदि वे किसी में एक निश्चित, सुसम्बद्ध तथा रचनात्मक क्रम में व्यक्त हों, तो हम कहते हैं कि उसका चरित्र दृढ़ है। किसी को भी बेकार कहकर उसका तिरस्कार न करो, क्योंकि वह एक चरित्र का प्रतिनिधित्व करता है। दूसरे शब्दों में, वह अपने आदतों की समष्टि है। नई उपयोगी आदतों की सहायता से पुरानी आदतों पर विजय प्राप्त किया जा सकता है। बारम्बार की आदतों से आचरण बनता है। सुधार की इच्छा से बारम्बार किये गये अच्छे कर्मों के द्वारा ही हम अपना आचरण सुधार सकते हैं।

परिवेश का प्रभाव

उचित मार्गदर्शन का अभाव और साथ ही सुधार की तीव्र इच्छा से उत्पन्न चेष्टा न होने पर, जीवन बरबाद हो जाता है। एक विवरण में मनोविज्ञान का एक विशेषज्ञ बताता है कि कैसे एक व्यक्ति पत्थर-दिल अपराधी में परिणत हो सकता है –

"हत्या के दृश्य को पहली बार देखनेवाले व्यक्ति को बड़ा आघात लगता है और उसे अपराध से पूर्णतया विरक्ति का बोध होता है। परन्तु ऐसा ही अपराध यदि उसे बारम्बार देखने को मिले, तो वह अभ्यस्त हो जाता है और इससे उसे कोई आघात नहीं लगता। जो व्यक्ति लम्बे समय तक हत्यारों के बीच रहता है, वह धीरे धीरे उनसे इतना प्रभावित हो जाता है कि उसे भी अपराध करने में कोई हिचक नहीं रह जाती।

"कुछ कैदी दीर्घ काल जेल में बिताने के बाद बाहर आते हैं। मुक्त होने के बाद भी उनमें से कोई कोई जेलर से अनुरोध करते हैं कि उन्हें पुनः जेल में ही रखा जाय, क्योंकि अपने अभ्यस्त परिवेश के बाहर आकर वे असहाय महसूस करते हैं।

गन्दगी में रहनेवाले लोग स्वच्छता के सारे नियम भूलकर गन्दगी के अभ्यस्त हो जाते हैं। यह परिवेश का प्रभाव है। क्या ऐसे दलदल से बाहर निकलना सम्भव है?

तुम्हें शायद उस युवा अँग्रेज व्यापारी डंकन की कहानी ज्ञात होगी, जिसने एक नरभक्षी जनजाति के लोगों को रीति-रिवाज, परम्परा तथा परिवेश के कारण बुरी आदतों के गर्त से निकालने हेतु अद्वितीय बलिदान, प्रयास तथा निष्ठा के साथ संघर्ष किया था? उसके पराक्रम की कथा किसी भी ऐसी जाति को प्रेरणा प्रदान करेगी, जो प्रगति तथा विकास के मार्ग पर चलने की इच्छुक हो –

१८५७ ई. में एक ब्रिटिश व्यापारी जहाज कनाडा के उत्तर-पश्चिम में अलास्का के पास प्रशान्त महासागर के एक द्वीप के पास ठहरा। तट के दृश्य को देखकर उस युवा व्यापारी के रोंगटे खड़े हो गये। वहाँ बीस से भी अधिक मनुष्यों के कटे हुए अंग बिखरे पड़े थे। डंकन के आतंक तथा घबराहट को देखकर जहाज के अधिकारी ने कहा –

"ये सिमशिन इण्डियन हैं। ये लोग सर्वदा ही आपस में लड़ते और एक-दूसरे की हत्या करते रहते हैं। इसके अतिरिक्त ये नरभक्षी भी हैं। हत्या उनके लिए खेल है। फिर उन्हें मद्यपान की भी आदत है। जो लोमयुक्त चर्म ये बड़ा परिश्रम करके वनों से लाते हैं, उसे मद्य के बदले सस्ते ही बेच देते हैं। मद्य के बदले ये अपने बच्चों तक को बेचने से नहीं हिचकते।"

डंकन यह देखकर आतंकित हो गया कि एक पिता धन के लिए अपनी बिलखती हुई पुत्री को सैनिकों को समर्पण करने के लिए विवश कर रहा है। उसे बड़ा दुःख हुआ। उसके मन में ये विचार उमड़ने लगे – 'इन्हें मार्गदर्शन की जरूरत है। उन्हें एक सुधारक चाहिए'। उसके मानव-प्रेम ने उसे संकल्प लेने को बाध्य किया। उसने दृढ़ संकल्प के साथ समाज-सेवा के उस क्षेत्र में पदार्पण किया, जिसमें किसी श्वेत मनुष्य ने कभी प्रयास नहीं किया था।

स्वयं को भयानक संकट में डालकर वह इन बर्बर लोगों के बीच रहने लगा। उसने उनकी भाषा सीखी और शुद्ध प्रेम तथा सच्चाई से उनके दिलों को जीतने का प्रयास किया। हर झोपड़ी में जाकर उसने लोगों से सम्बन्ध बनाए और स्वच्छता तथा स्वास्थ्य के नियम बताये। युवकों को एकत्रकर, उन्हें प्रशिक्षित करके उसने सच्चे स्वयंसेवकों का एक दल बनाया। उसने गिरजाघर बनाए तथा लोगों को धर्मोपदेश दिए। उनकी दृढ़मूल बुरी आदतों को उखाड़ फेंकने के लिए उसने अनेक वर्षों तक पूर्ण धैर्य व विलक्षण संकल्प के साथ संघर्ष किया।

ऐसा लम्बा संघर्ष सहज नहीं है। 'महान् कार्यों में सदा ही विघ्न आते हैं' – डंकन की समाज-सेवा में भी यह कथन सत्य सिद्ध हुआ। जिनकी सेवा वह करना चाहता था, उन्हीं लोगों और उनके नेताओं ने उसका विरोध किया। उनका शोषण करनेवाले व्यापारियों ने भी विरोध किया। पुरोहित उसके विरुद्ध हो गये। परन्तु उसने अकेले ही अपूर्व पराक्रम, उत्साह, आत्मविश्वास तथा अविराम संघर्ष के साथ सभी कठिनाइयों का सामना किया और सफलता प्राप्त की।

उसका संघर्ष ६० वर्ष बाद फलीभूत हुआ। अपनी भयानक बर्बरता के कारण कुख्यात सिमशिन जाति के लोग आज बड़े शान्तिप्रिय, सुशील तथा सभ्य हैं। अब वे बर्बरतापूर्ण कोई भी कार्य नहीं करते और न शराब ही छूते हैं।

डंकन ने अपने प्रयोग तथा खोज के बाद घोषणा की कि अच्छी आदतों के द्वारा पुरानी आदतों को जीता जा सकता है। १९१८ ई. में ८६ वर्ष की आयु में उसका देहान्त हुआ, पर वह सदा के लिए सिमशिन जाति का प्रिय बन गया।

❖ (क्रमशः) ❖

ईसप की नीति-कथाएँ (६)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व आविर्भूत ईसप के जीवन के विषय में ज्यादा जानकारी नहीं मिलती । कहते हैं कि वे पूर्व के किसी देश में जन्मे और यूनान मे निवास करनेवाले एक गुलाम थे । उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातकों तथा पंचतंत्र आदि में ग्रथित भारतीय कथाओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है । सुकरात तथा सिकन्दर के युग में भी अनेक भारतवासी उन देशों की यात्रा किया करते थे, इस कारण प्राचीन यूनान की कथाओ पर भारतीय प्रभाव होना कोई असम्भव बात नहीं है । इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यों का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी हैं । इनकी लोकप्रियता का यही रहस्य है । – सं.)

हिरण और अंगूर की बेल

शिकारियों द्वारा पीछा किये जाने पर एक हिरण प्राण के भय से दौड़ते हुए एक अंगूर के वन में घुस गया । यह सोचकर कि यहाँ शिकारियों को मेरा पता नहीं चलेगा, वह स्वच्छन्दतापूर्वक अंगूर की लताएँ खाने लगा । शिकारी लोग निराश होकर उसी जंगल के किनारे से होकर चले जा रहे थे । उन लोगो ने लता खाने की आवाज सुनकर अनुमान किया कि हिरण वही होगा, उसी ओर एक बाण छोड़ दिया । तीर की आघात से हिरण की मृत्यु हो गई ।

हिरण ने यह कहते हुए प्राण त्याग दिये – -जिन लताओं ने संकट के समय मुझे आश्रय दिया था, मैं उन्हीं को नष्ट करने में प्रवृत्त हुआ; इसी का मुझे समुचित दण्ड मिला है ।

सिंह, सियार और गधा

एक गधा और एक सियार साथ मिलकर शिकार करने जा रहे थे । कुछ दूर जाने पर उन्होंने देखा कि थोड़ी दूर पर एक सिंह बैठा हुआ है । यह संकट उपस्थित देखकर सियार तत्काल सिंह के निकट पहुँच गया और धीरे धीरे कहने लगा, "महाराज, यदि आप कृपा करके मुझे प्राणदान करें, तो मैं इस गधे को आपको सौंप दूँगा ।" सिंह राजी हो गया । सियार ने बड़ी चालाकी से गधे को सिंह के हाथों में ला दिया । सिंह ने गधे को मारने के बाद सियार को भी मारकर उस दिन का भोजन पूरा किया और गधे को अगले दिन के आहार के लिये सुरक्षित रख दिया ।

कंजूस

एक कंजूस के पास कुछ सम्पत्ति थी । उसे सर्वदा यही भय तथा चिन्ता लगी रहती थी कि कहीं चोर या डाकू उसे उठा न ले जायँ । इस कारण उसने विचार किया कि मुझे कोई ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए ताकि कोई मेरी सम्पत्ति को खोजकर उसे चुरा न सके । काफी सोच-विचार करने के बाद अन्त उसने अपनी सारी सम्पत्ति बेच डाली और उसके द्वारा सोने का एक डला खरीदकर उसे एकान्त स्थान में ले जाकर जमीन में गाड़ दिया । परन्तु इतना करके भी वह निश्चिन्त नहीं हो सका । वह प्रतिदिन नियमित रूप से कम-से-कम एक बार उसी स्थान पर जाकर देख आता कि कहीं उसका पता पाकर कोई उसे उठा तो नहीं ले गया है ।

कंजूस को प्रतिदिन ऐसा करते देखकर उसके नौकर के मन में शंका हुई कि शायद उस स्थान पर बहुत-सा गुप्त धन है, नहीं तो फिर ये प्रतिदिन वहाँ क्यों जाते हैं? फिर एक दिन मौका देखकर उसने उस स्थान को खोदा और सोने की ईंट लेकर भाग गया । अगले दिन कंजूस ने यथासमय वहाँ जाकर देखा कि कोई गड्ढा खोदकर उसकी सोने की ईंट ले गया है, तो वह अपना सिर पीटते हुए उच्च स्वर में रोने लगा ।

एक पड़ोसी ने उसे शोकमग्न तथा अत्यन्त कातर देखकर कारण पूछा । सब कुछ जान लेने के बाद उसने कहा, "भाई, तुम व्यर्थ ही क्यों रोते हो? पत्थर का एक टुकड़ा वहाँ पर रख दो और कल्पना करो कि तुम्हारी सोने की ईंट पहले के समान ही वहाँ दबी पड़ी है; क्योंकि जब तुमने निश्चय ही कर लिया है कि उस धन का भोग नहीं करोगे, तो चाहे वहाँ सोने की ईंट दबी हो या पत्थर का टुकड़ा, फल तो एक ही है ।"

धन का भोग या परोपकार में उपयोग न किया जाय, तो उसका रहना या न रहना, दोनों ही समान है ।

सिंह, भालू और सियार

एक स्थान पर हिरण का एक मरा हुआ बच्चा पड़ा देखकर एक सिंह और एक भालू उसके लिये यह कहते हुए आपस में झगड़ने लगे कि यह हिरण का बच्चा मेरा है । झगड़े ने क्रमश: बढ़कर युद्ध का रूप धारण कर लिया । काफी देर तक युद्ध होने से दोनों ही इतने थककर चूर हो गये कि उनमें हिलने-डुलने तक की क्षमता नहीं रही । मौका देखकर एक सियार आया और मरे हुए हिरण के बच्चे को मुँह में दबाकर चल दिया । इस पर वे दोनों आपस दु:ख व्यक्त करते हुए कहने लगे, "हम लोग कितने मूर्ख हैं, जो लड़ते हुए अपने सारे शरीर को क्षत-विक्षत करके हमने इस धूर्त के लिये ही आहार का बन्दोबस्त किया है!"

बीमार सिंह

एक सिंह इतना वृद्ध और दुर्बल हो गया कि वह शिकार नहीं कर पाता था, अत: उसके भूखे मरने की नौबत आ गई । तब अपनी पर्वत की गुफा में रहते हुए ही उसने यह खबर फैला दी कि सिंह इतना बीमार हो गया है कि वह उठ नहीं सकता, चल-फिर नहीं सकता और यहाँ तक कि बोल भी नहीं सकता । यह समाचार आसपास के जंगलों में प्रचारित हो

जाने पर पशुगण एक-एककर सिंह को देखने जाने लगे। सिंह को अत्यन्त दुर्बल समझकर ज्योंही कोई प्राणी उसके निकट जाता, त्योंही सिंह उसका गर्दन तोड़कर उसे खा जाता।

इसी प्रकार कई दिन बीत जाने पर एक सियार भी सिंह को देखने के लिये गुफा के द्वार पर जा पहुँचा। उसे शंका थी कि सिंह सचमुच ही बीमार है या कहीं धोखे से पशुओं को मार तो नहीं रहा है। इस कारण उसने गुफा के भीतर सिंह के पास न जाकर थोड़ी दूरी पर खड़े खड़े पूछा, ''महाराज, आप कैसे हैं?'' सियार को देखकर अत्यन्त प्रसन्नता व्यक्त करते हुए सिंह बोला, ''कौन हो जी, मेरे परम मित्र सियार! आओ भाई आओ; मैं सोच रहा था कि एक-एककर सभी मित्र मुझे देखने आए, परन्तु परम मित्र सियार क्यों नहीं आया। खैर, मैं तुम्हारे आने से परम आह्लादित हुआ हूँ। परन्तु भाई, तुम आकर दूर क्यों खड़े हो? निकट आकर दो-चार मीठी बातें करके मेरे कानों को शीतल करो। देखो भाई, मेरा अन्तिम समय आ चुका है; अब मैं ज्यादा दिन नहीं बचूँगा।''

यह सुनकर सियार बोला, ''महाराज, मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप शीघ्र ही स्वस्थ हो उठें, परन्तु आप मुझे क्षमा करें, मैं आपके निकट जाने या अधिक देर तक यहाँ ठहर पाने में असमर्थ हूँ। कारण यह है कि पदचिह्नों को देखकर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बहुत-से पशुओं ने गुफा में प्रवेश किया था, परन्तु उनमें से किसी के भी बाहर आने के पदचिह्न नहीं दिखाई देते। इससे मेरे हृदय में बड़ी आशंका हो रही है और मुझे यहाँ ठहरने का साहस भी नहीं हो रहा है, इसलिये मैं चलता हूँ।'' इतना कहकर सियार वहाँ से चलता बना।

लकड़बग्घा और भेंड़

एक लकड़बग्घे को कुत्ते ने काट दिया था। घाव क्रमशः इतना बढ़ गया कि लकड़बग्घा चलने-फिरने में असमर्थ हो गया और इस कारण उसके लिये भोजन जुटाना असम्भव हो गया। एक दिन वह भूख से व्याकुल होकर पड़ा हुआ था, तभी एक भेंड़ उसके सामने से होकर चली जा रही थी।

उसे देखकर लकड़बग्घा बड़े करुण स्वर में कहने लगा, ''भाई, कई दिनों से मैं चलने-फिरने में असमर्थ होकर पड़ा हूँ; मैं भूख से व्याकुल हूँ और प्यास से मेरी छाती फटी जा रही है। तुम कृपा करके उस गड्ढे से मेरे लिये पानी ला दो, भोजन की व्यवस्था मैं स्वयं कर लूँगा।'' भेंड़ ने कहा, ''मैं तुम्हारा अभिप्राय समझ रहा हूँ। पानी देने के लिये निकट जाते ही तुम मेरा गर्दन पकड़कर भोजन की व्यवस्था कर लोगे।''

सिंह और तीन बैल

तीन बैलों में बड़ी प्रगाढ़ मित्रता थी। वे लोग सर्वदा एक ही मैदान में एक साथ घास चरा करते थे। एक सिंह उन्हें देखकर हमेशा सोचा करता था कि कब उसे इन तीनों बैलों को मारकर खाने का अवसर मिलेगा। बैल इतने बलवान थे कि तीनों के एक साथ रहने पर सिंह उन पर आक्रमण करने का साहस नहीं कर सकता था। अतः सिंह ने मन-ही-मन सोचा कि उसे कोई ऐसा उपाय करना चाहिये ताकि ये लोग अलग अलग चरने लगें।

इसके बाद उसने अपनी युक्ति से बैलों के बीच ऐसा वैमनस्य पैदा कर दिया कि वे तीनों एक-दूसरे का मुख तक नहीं देखना चाहते थे। तब उन लोगों ने एक-दूसरे से दूर अलग अलग स्थानों में घास चरना आरम्भ कर दिया। अब सिंह ने सुअवसर देखकर बारी बारी से तीनों को मारकर अनेक दिनों के लिये अपने भोजन की व्यवस्था कर ली।

सियार और सारस

एक दिन एक सियार ने एक सारस से कहा, ''भाई, कल तुम मेरे घर भोजन करने आना।'' सारस ने हामी भरी और अगले दिन यथासमय सियार के घर जा पहुँचा। हँसी उड़ाने के लिये सियार ने एक थाली में झोल परोसने के बाद सारस को आसन ग्रहण करने का अनुरोध किया और स्वयं भी भोजन के लिये बैठ गया। सारस की चोंच बड़ी पतली और लम्बी थी। अतः वह थाली से बिल्कुल भी खा नहीं पा रहा था, इसलिये वह चुपचाप बैठा रहा। परन्तु सियार अपनी जीभ के द्वारा बड़ी सहजतापूर्वक थाली से झोल को चाट-चाटकर खाने लगा। बेचारा सारस भूखा ही रह गया।

सारस को भोजन न करते देख सियार ने बड़ी नाराजगी व्यक्त करते हुए कहा, ''भाई, तुमने भली-भाँति भोजन नहीं किया, इससे मैं बड़ा दुःखी हुआ हूँ। लगता है तुम्हें भोजन पसन्द नहीं आया, इसलिये तुमने अच्छी तरह खाया नहीं। सारस ने सब कुछ सुना और सियार का उपहास समझकर मौन रह गया; परन्तु उसे सबक सिखाने के लिये जाते समय जाते समय बोला, ''भाई, कल तुम्हें मेरे यहाँ आकर भोजन करना होगा।'' सियार ने भी सहमति दी।

अगले दिन सियार भी यथासमय सारस के घर जा पहुँचा। सारस ने एक सुराही में भोजन की सामग्री रखकर सियार के सामने रख दिया और बोला, ''आओ भाई, चलो भोजन शुरू करें।'' सारस अपनी लम्बी चोंच को सुराही में डालकर बड़ी आसानी से खाने लगा, परन्तु सियार काफी प्रयास करके भी अपनी जीभ को सुराही के भीतर घुसाने में सफल नहीं हुआ। भूख से व्याकुल होकर वह बर्तन को बाहर से ही चाटने लगा।

भोजन समाप्त हो जाने पर भूखा सियार नाराजगी भी नहीं दिखा सका। वह यही कहते कहते चला गया, ''मैं भला सारस को भी कैसे दोष दे सकता हूँ! मैंने उसे जो रास्ता दिखाया था, वह उसी पर तो चल रहा है।''

हम दूसरों के साथ जैसा व्यवहार करते हैं, उनसे भी हमें वैसे ही व्यवहार की अपेक्षा करनी चाहिये ।

सियार और कँटीला वृक्ष

जंगली सूअर द्वारा पीछा किये जाने पर एक सियार एक बेड़ा फाँदकर भागने का प्रयास कर रहा था । परन्तु छलाँग लगाकर बेड़े को पार करते समय जब वह नीचे गिरने लगा, तब उसने बेड़े से लगी हुई एक कँटीले वृक्ष की डाल को पकड़ लिया । इससे उसके हाथ में काँटा चुभ जाने से खून बहने लगा और वह पीड़ा से चिल्ला उठा । केवल इतना ही नही, बल्कि उसके पकड़ने से वृक्ष की कमजोर डाल टूट जाने के कारण वह धरती पर भी गिर पड़ा ।

पीड़ा और दु:ख से अधीर होकर सियार अत्यन्त क्रुद्ध हो गया और कँटीले वृक्ष को फटकारते हुए बोला, "अरे दुष्ट, तेरा सहारा लेने के प्रयास में ही आज मेरी यह दुर्गति हुई है । तेरा मर जाना ही अच्छा है!"

यह सुनकर कँटीले वृक्ष ने कहा, "अरे भाई, यह तो बड़े मजे की बात हुई । मैंने तो तुम्हें सहारा लेने को बुलाया नहीं था, फिर तुमने मेरा सहारा लेने का प्रयास ही क्यों किया?"

सियार और भी क्रुद्ध होकर बोला, "तू बड़ा नीच है । देख, यह बेड़ा कितना अच्छा है! इसका सहारा लेकर तो मुझे कोई कष्ट नही हुआ । इससे मुझे काफी सुविधा हुई है ।"

वृक्ष बोला, "नि:सन्देह बेड़ा महान् है, क्योंकि उसी ने मुझे भी आश्रय दे रखा है । परन्तु तुम मुझसे भी नीच हो, क्योकि तुमने मुझे ही सहारा समझकर पकड़ लिया! जब मैं स्वयं ही दूसरे पर आश्रित हूँ, तो फिर मेरा सहारा लेना क्या तुम्हारी मूर्खता का परिचायक नहीं है?"

स्वयं दूसरों पर आश्रित रहनेवाला व्यक्ति अन्य लोगों की सहायता करने में असमर्थ होता है ।

गंजा और कृत्रिम बाल

एक आदमी के सिर से सारे बाल झड़ गये थे । उसे लोगों के सामने अपना गंजा सिर दिखाने में बड़ी लज्जा का अनुभव होता था । इसी कारण वह हमेशा नकली बालों की टोपी लगाये रहता था । एक दिन वह अपने तीन-चार मित्रों के साथ घोड़ा पर सवार होकर घूमने गया । घोड़ों के सरपट दौड़ना आरम्भ करने पर उसकी नकली बालों की टोपी हवा में उड़कर धरती पर गिर पड़ी और उसका गंजा सिर दिखाई देने लगा । उसके मित्र यह देखकर अपनी हँसी नहीं रोक सके । वह व्यक्ति भी उन लोगों के साथ हँसने लगा और बोला, "जब मेरे अपने बाल ही सिर पर नही रह सके, तो फिर दूसरों के बाल भला कैसे रोककर रख सकूँगा ।"

सिंह की खालवाला गधा

जंगल में घूमते हुए एक गधे को कहीं पड़ी हुई एक सिंह की खाल मिल गई । वह बड़ा प्रसन्न हुआ । सिंह के खाल से अपने पूरे शरीर को ढँकने के बाद उस गधे ने सोचा कि अब सभी लोग मुझे सिंह ही समझेंगे और कोई भी यह पहचान नहीं सकेगा कि मैं गधा हूँ । इसलिए आज से मैं इस वन में सिंह के समान.राज्य करूँगा ।

ऐसा सोचने के बाद किसी भी जानवर के सामने आते ही वह चिल्लाकर उसकी ओर झपटते हुए उसे आतंकित किया करता था । अबोध प्राणी उसे सिंह समझकर देखते ही डर के मारे भाग जाते थे । एक दिन एक सियार को भी इसी प्रकार डराने का प्रयास करने पर, वह बोला, "अरे गधे, मेरे सामने तेरी चालाकी नहीं चलेगी । यदि मैं तेरी आवाज नहीं पहचानता, तब तो मैं भी तुम्हें सिंह समझकर डर जाता ।"

घोड़े की छाया

एक आदमी के पास एक घोड़ा था । वह उसे भाड़े पर देकर अपनी आजीविका चलाया करता था । गर्मी का मौसम था । एक दिन एक व्यक्ति चलते चलते अत्यन्त थक गया और इस कारण उसने भाड़े पर वह घोड़ा लिया । दोपहर हो जाने पर वह घोड़े से उतरकर थोड़ा-सा विश्राम करने के लिए घोड़े की ही छाया में बैठ गया ।

उसे घोड़े की छाया में बैठते देखकर घोड़े का मालिक बोला, "अच्छा, तुम घोड़े की छाया में क्यों बैठोगे? घोड़ा तो तुम्हारा नहीं, मेरा है । इसकी छाया में बैठने का अधिकार तो केवल मुझे है । तुम्हें कदापि इसकी छाया में बैठने नहीं दूँगा ।" इस पर वह यात्री बोला, "मैंने तो पूरे दिन के लिए घोड़ा लिया है, तो फिर मुझे क्यों इसकी छाया में बैठने नहीं दोगे?" घोड़ेवाला बोला, "मैंने तो तुम्हें केवल घोड़ा ही किराये पर दिया है, उसकी छाया नहीं ।"

इसी प्रकार क्रमश: झगड़ा बढ़ जाने से दोनों घोड़े को छोड़कर आपस में मारपीट करने लगे । मौका देखकर घोड़ा तेजी से भाग गया और दोनों हाथ मलते रह गये ।

❖ (क्रमश:) ❖

केनोपनिषद् (६)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। सहस्रों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा अन्य गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्री शंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु इन पर सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। उनमें से ईशोपनिषद् के बाद अब हम केनोपनिषद् पर शांकर भाष्य का सरल हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत कर रहे हैं। यहाँ पर भाष्य की अधिकांश कठिन सन्धियों को खोलकर सरल रूप देने का प्रयास किया है और उसमें आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को समझने में सुविधा हो सके। – सं.)

कथमिति, श्रृणुत -

– कैसा समझा हूँ, आप लोग सुनिये –

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च।।२।। (१०)

अन्वयार्थ – **सुवेद इति** स्पष्ट रूप से जानता हूँ (ऐसा) **अहम्** मैं **न मन्ये** नहीं मानता) । (पर) **न वेद** नहीं जानता **इति** ऐसा **नो** नही है; **वेद** जानता हूँ **च** और (नहीं भी जानता) । **नः** हम लोगों में **यः** जो कोई (मेरे) **तद् इति** इस कथन को **वेद** जानता है – **'नो न वेद, वेद च'** ऐसा नहीं कि नहीं जानता, जानता हूँ और नहीं जानता – (वह) **तद्** उस **ब्रह्म** को **वेद** जानता है ।

भावार्थ – मुझे नहीं लगता कि 'मैं (ब्रह्म को) भलीभाँति (स्पष्ट रूप से) जानता हूँ'; ऐसा भी नहीं है कि 'मैं नहीं जानता'; 'जानता हूँ' (और 'नहीं भी जानता') । हम लोगों में से जो कोई भी मेरी इस (निम्नलिखित) उक्ति को समझता है, वही ब्रह्म को जानता है – 'ऐसा नहीं कि मैं नहीं जानता; मैं जानता हूँ और नहीं भी जानता ।'

भाष्य - <u>न</u> <u>अहं</u> <u>मन्ये</u> <u>सुवेद</u> <u>इति</u>, न एव अहं मन्ये सुवेद ब्रह्म इति । न एव तर्हि विदितं त्वया ब्रह्म इति उक्ते आह - <u>नो</u> <u>न</u> <u>वेद</u> <u>इति</u> <u>वेद</u> <u>च</u> । वेद च इति च शब्दात् न वेद च ।

'मै ऐसा नहीं मानता कि मैं ब्रह्म को भलीभाँति जानता हूँ।' इस पर 'तब तो तुम्हें ब्रह्म ज्ञात ही नहीं हुआ है' – (आचार्य द्वारा) ऐसा कहे जाने पर वह (शिष्य) कहता है – ऐसा नहीं है कि मैं नहीं जानता । 'वेद च' अर्थात् 'जानता हूँ' और यहाँ 'च' शब्द लगाने का तात्पर्य यह है – 'और नहीं भी जानता'।

ननु विप्रतिषिद्धं नाहं मन्ये सुवेद इति, नो न वेदेति, वेद च इति । यदि न मन्यसे सुवेद इति, कथं मन्यसे वेद चेति । अथ मन्यसे वेद एव इति, कथं न मन्ये सुवेद इति । एकं वस्तु येन ज्ञायते, तेनैव तदेव वस्तु न सुविज्ञायते इति विप्रतिसिद्धं, संशय-विपर्ययौ वर्जयित्वा । न च ब्रह्म संशयितत्वेन ज्ञेयं विपरीतत्वेन वा इति नियन्तुं शक्यम् । संशय-विपर्ययौ हि सर्वत्र अनर्थकरत्वेन एव प्रसिद्धौ ।

शंका (गुरु) – तुमने जो कहा – "मुझे नहीं लगता कि 'मैं (ब्रह्म को) भलीभाँति जानता हूँ'; ऐसा भी नहीं है कि 'मै नहीं जानता'; 'जानता हूँ' और 'नहीं भी जानता' " – तुम्हारे इस वाक्य में अन्तर्विरोध है । यदि तुम्हें लगता है कि 'भलीभाँति नहीं जानता हूँ', फिर कैसे मानते हो – 'जानता हूँ' । और यदि मानते हो कि 'जानता हूँ', तो फिर कैसे कहते हो कि 'भलीभाँति नहीं जानता' । जिस (व्यक्ति) के द्वारा कोई एक वस्तु जानी जाती है और उसी के द्वारा वही वस्तु भलीभाँति नहीं जानी जाती – ऐसा कथन परस्पर-विरोधी है और संशय तथा भ्रान्ति (विपरीत ज्ञान) के बिना नहीं हो सकता । (दूसरी ओर) और ऐसा नियम भी नहीं बनाया जा सकता कि ब्रह्म का ज्ञान संशय या भ्रान्ति के द्वारा होगा, क्योंकि संशय तथा भ्रान्ति ज्ञान तो सर्वत्र ही अनर्थकारी के रूप में प्रसिद्ध हैं ।

एवम् आचार्येण विचाल्यमानो अपि शिष्यो न विचचाल, 'अन्यद् एव तद्विदिताद् अथो अविदिताद् अधि' इति आचार्य-उक्त-आगम-सम्प्रदाय-बलात् उपपत्ति अनुभव-बलात् च, जगर्ज च ब्रह्मविद्यायां दृढ-निश्चयतां दर्शयन् आत्मनः । कथम् इति उच्यते - <u>यो</u> <u>यः</u> कश्चिद् <u>नः</u> अस्माकं सब्रह्मचारिणां मध्ये <u>तत्</u> मद् उक्तं वचनं तत्त्वतो <u>वेद</u>, स <u>तद्</u> ब्रह्म <u>वेद</u> ।

समाधान – इस प्रकार आचार्य द्वारा विचलित किये जाने पर भी शिष्य – 'यह (ब्रह्म) ज्ञात (वस्तुओं) से भिन्न है और फिर अज्ञात (वस्तुओं) से भी परे है' – आचार्य द्वारा कथित इस श्रुति-परम्परा, युक्ति तथा (अपनी) अनुभूति के बल से विचलित नहीं हुआ । और ब्रह्मविद्या में अपने दृढ़ निश्चय को प्रदर्शित करते हुए (वह) गरज उठा । कैसे गरजा – यह बताते हैं – 'हम सहपाठियों में से जो कोई भी मेरे कथन को ठीक ठीक समझता है, वह उस ब्रह्म को जानता है ।'

किं पुनः तद् वचनम् इति अतः आह - '<u>नो</u> <u>न</u> <u>वेदेति</u> <u>वेद</u> <u>च</u>' इति । यदेव 'अन्यद् एव तद् विदिताद् अथो अविदिताद् अधि' इति उक्तम्, (तदेव) वस्तु अनुमान-अनुभवाभ्यां संयोज्य निश्चितं वाक्य-अन्तरेण 'नो न वेदेति वेद च' इति अवोचत् आचार्य-बुद्धि-संवादार्थं मन्दबुद्धि-ग्रहण-

व्यपोहार्थं च । तथा च गर्जितम् उपपन्नं भवति 'यो नः तद्वेद तद्वेद' इति ।।२।।

'तो फिर वह कथन क्या है?' – ऐसा पूछे जाने पर उस (शिष्य) ने कहा – 'ऐसा नहीं कि मैं नहीं जानता; मै जानता हूँ और नही भी जानता ।' पहले जो (आचार्य द्वारा) कहा गया था – 'यह (ब्रह्म) ज्ञात (वस्तुओं) से भिन्न है और फिर अज्ञात (वस्तुओं) से भी परे है' – उसी वस्तु को अनुमान तथा अनुभूति से जोड़कर आचार्य की बुद्धि के साथ मेल दिखाने के लिए और मन्दबुद्धि (सहपाठियों) की (ब्रह्म के ज्ञेयत्व-विषयक) धारणा को दूर करने के लिए एक अन्य निश्चय वाक्य से कहा – 'ऐसा नही कि मैं नही जानता; मैं जानता हूँ और नहीं भी जानता ।' इस प्रकार उसका – 'हम लोगों में से जो कोई भी मेरी इस उक्ति को समझता है, वही ब्रह्म को जानता है' – कहकर गरजना उचित ही है ।।२।। (१०)

शिष्य-आचार्य-संवादात् प्रतिनिवृत्य स्वेन रूपेण श्रुतिः समस्त-संवाद-निर्वृत्तम् अर्थम् एव बोधयति – 'यस्य अमतम्' इत्यादिना –

शिष्य और आचार्य के बीच होनेवाले संवाद से लौटकर, श्रुति अब अपनी ओर से 'यस्यामतम्' आदि मंत्रों के द्वारा उस पूरे संवाद का निष्कर्ष बताती है –

(ज्ञाता अज्ञ है और अज्ञ ज्ञानी है)

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।।३ (११)

अन्वयार्थ – (ब्रह्म) **यस्य** जिसके लिए **अमतम्** अज्ञात है **तस्य** उसके लिए **मतम्** ज्ञात है, **यस्य** जिसे **मतम्** (निश्चित रूप से) ज्ञात है **सः** वह **न वेद** नहीं जानता (क्योंकि) **विजानताम्** भलीभाँति जाननेवालों के लिए (ब्रह्म) **अविज्ञातम्** अज्ञात है **अविजानताम्** अज्ञानियों के लिए **विज्ञातम्** ज्ञात है ।

भावार्थ – यह (ब्रह्म) जिसके लिए अज्ञात (अज्ञेय) है, उसी को ज्ञात है; (परन्तु) जो इसे ज्ञात (ज्ञेय) समझता है, उसके लिए अज्ञात है । (क्योंकि मन तथा इन्द्रियों से परे होने के कारण) जाननेवालो के लिए यह अज्ञात है और न जाननेवालों के लिए ज्ञात है ।

भाष्य – यस्य ब्रह्मविदः अमतम् अविज्ञातम् अविदितं ब्रह्म इति मतम् अभिप्रायः निश्चयः, तस्य मतं ज्ञातं सम्यग् ब्रह्म इति अभिप्रायः । यस्य पुनः मतं ज्ञातं विदितं मया ब्रह्म इति निश्चयः, न वेद एव सः – न ब्रह्म विजानाति सः ।

जिस ब्रह्मवेत्ता को ऐसा निश्चय हुआ है कि ब्रह्म मुझे ज्ञात नहीं है, उसके द्वारा ब्रह्म यथार्थ रूप से ज्ञात हो गया है – यही अभिप्राय है । और जिसका विश्वास है कि ब्रह्म मेरे द्वारा जान लिया गया है, वह ब्रह्म को नहीं जानता ।

विद्वद्-अविदुषोः यथोक्तौ पक्षौ अवधारयति – 'अविज्ञातं विजानताम्' इति, अविज्ञातम् अमतम् अविदितम् एव ब्रह्म विजानतां सम्यग् विदितवताम् इति एतत् । विज्ञातं विदितं ब्रह्म अविजानताम् असम्यग्-दर्शिनाम्, इन्द्रिय-मनो-बुद्धिषु एव आत्मदर्शिनाम् इत्यर्थः, न तु अत्यन्तम् एव अव्युत्पन्न-बुद्धीनाम् । न हि तेषां विज्ञातम् अस्माभिः ब्रह्म इति मतिः भवति । इन्द्रिय-मनो-बुद्धि-उपाधिषु आत्म-दर्शिनां तु ब्रह्म उपाधि-विवेक-अनुपलम्भात्, बुद्ध्यादि-उपाधेः च विज्ञातत्वात् विदितं ब्रह्म इति उपपद्यते भ्रान्तिः इति अतो असम्यग् दर्शनं पूर्वपक्षत्वेन उपन्यस्यते – विज्ञातम् अविजानताम् इति । अथवा हेत्वर्थ उत्तरार्धो अविज्ञातम् इत्यादिः ।।३।। (११)

अब 'जाननेवालों के लिए यह अज्ञात है' – ज्ञानी तथा अज्ञानी रूप पूर्वोक्त दोनों पक्षों का (दूसरी पंक्ति में) स्पष्ट निर्धारण करते हुए कहा गया – अर्थात् सम्यक् रूप से जाननेवालों के लिए ब्रह्म अज्ञात ही है । और सम्यक् रूप से न जाननेवालों अर्थात् इन्द्रिय-मन-बुद्धि में आत्मा को देखनेवालों के लिए ब्रह्म ज्ञात (ज्ञेय) है । और अत्यन्त अविकसित बुद्धिवालो के लिए (उनकी धारणा-शक्ति के परे होने के कारण) ज्ञात नहीं है, (क्योंकि) उन्हें ऐसी धारणा ही नही होती कि ब्रह्म हमे ज्ञात हो गया है । इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि रूपी उपाधियों को आत्मा समझनेवालों के लिए, ब्रह्म तथा उपाधियों के बीच विवेक न हो पाने के कारण और बुद्धि आदि उपाधियों को जानने के कारण, (उन्हें) यह भ्रान्ति होना उचित ही है कि 'मैंने ब्रह्म को जान लिया'। इस कारण 'न जाननेवालों को ज्ञात है' – कहकर मिथ्या ज्ञान को (खण्डन हेतु) पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया है । अथवा (दूसरे प्रकार से अर्थ करें तो पूर्वार्ध का) कारण बताने के लिए 'अविज्ञातम्' आदि के रूप में उत्तरार्ध बताया गया है ।।३।। ❖ (क्रमशः) ❖

दुर्जय शत्रु - काम

भैरवदत्त उपाध्याय

गीता में अर्जुन जब श्रीकृष्ण से पूछते हैं कि मनुष्य को न चाहते हुए भी बलात् पाप कर्मो में लगानेवाला कौन है? तब भगवान श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं कि हे अर्जुन! रजोगुण से उत्पन्न अग्नि के समान सब कुछ निगलने वाला महापापी यह काम है। इसी प्रकार श्रीमद् भागवत में उद्धवजी जब श्रीकृष्ण से पूछते हैं कि हे कृष्ण! जब प्रायः सभी मनुष्य यह जानते हैं कि विषय आपत्तियों के घर हैं, फिर भी कुत्ते, गधे और बकरे के समान उन्हीं को क्यों भोगते हैं? भगवान कृष्ण ने कहा कि अजितेन्द्रिय व्यक्ति काम के वशीभूत होकर परिणाम में दुःखदायी भोगों को भोगता है।

काम का साधारण अर्थ है - 'इच्छा', 'चाह' या 'कामना'। मानव मन में इन्द्रियों के विषय-भोगों को भोगने की जो इच्छा रहती है, वही काम है। जिनकी कामना की जाय वे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध भी काम हैं - **काम्यन्ते इति कामा शब्दामयो विषयाः**। कामशास्त्र में यह शब्द स्त्री-पुरुष की परस्पर भोगेच्छा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस रूप में यह प्रजननेन्द्रिय का संवेदनात्मक (Sensational) सुख है, जो जैविकीय तथ्य होते हुए भी, व्यष्टि तथा समष्टि के हित की दृष्टियों से जिसके नियत्रण की नितान्त अपेक्षा है।

यह काम समुद्र के समान है। जिस प्रकार समुद्र का अन्त नहीं है, उसी प्रकार इस काम का भी नहीं है। इससे समस्त प्राणिवर्ग धुँए से अग्नि, मैल से दर्पण और झिल्ली से गर्भ के समान आवृत्त हैं। आजकल इसका कार्यक्षेत्र व्यापक समझा जा रहा है। फ्रॅायड और फ्रॅायडीय विचारधारा के विचारकों ने मनुष्य के हर प्रकार के व्यवहार का मूलाधार कामकुण्ठा को निरूपित किया है।

आत्मघाती यह काम नरक का द्वार है। यह दुर्जय शत्रु है। गीता में इसे जीतने का आदेश दिया गया है। महात्मा गाँधी के अनुसार, ''कामदेव पर विजय पाना स्त्री-पुरुषों के परम कर्तव्यों में से एक है।'' विषयों का ध्यान करने से आसक्ति अर्थात् उन्हें प्राप्त करने की प्रबल उत्कण्ठा होती है, जो काम है। प्राप्तव्य में विघ्न की आशंका से क्रोध जागता है। क्रोध से समोह अर्थात् अविवेक, तदनन्तर बुद्धि की जड़ता और फिर व्यक्ति का पूर्णतः विनाश होता है। अतः इस पर विजय पाना मनुष्य का प्राथमिक कर्तव्य है।

भारतीय जीवन-दर्शन के सन्दर्भ में काम के दो रूप हैं - धर्मानुकूल काम और धर्म-प्रतिकूल अर्थात् समाज ने जिसे मान्यता प्रदान की है और जिसे अमान्य घोषित कर दिया है। प्रथम को उदात्त काम, नियंत्रित काम अथवा प्रेम और द्वितीय को अनुदात्त काम, अनियंत्रित काम अथवा वासना की सज्ञाएँ दी जा सकती हैं। रामचरितमानस में इन दोनों का द्वन्द्व चित्रित हुआ है। सीता, राम, लक्ष्मण, भरत आदि पात्र प्रथम वर्ग के और नारद, दशरथ, बालि, रावण तथा सूर्पणखा द्वितीय वर्ग के काम-प्रतीक हैं। इनमें प्रथम वर्ग के पात्रों का उत्थान और द्वितीय वर्ग के पात्रों का पतन तथा विनाश चित्रित करके आचरण का मार्ग इंगित कर दिया गया है।

इस काम पर विजय प्राप्त करने के लिए भोग और योग के दो मार्ग हैं। भोगवादी दृष्टि विषयों के उन्मुक्त भाव से भोग पर बल देते हुए उनकी निःसारता के ज्ञान से स्वतः विरति का विश्वास करती है; किन्तु उक्त मार्ग निरापद व श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार हविष्य से अग्नि शान्त नहीं होती, अपितु प्रबुद्ध होती है; ठीक उसी प्रकार स्वच्छन्द विषयोपभोग से काम शान्त नहीं होती, वह बढ़ता जाता है -

न जातु कामः कामानाम् उपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

अतः योगवादी विचारधारा ने अपनी कामनाओं तथा इन्द्रियों को सयत करने का दिशानिर्देश देकर मनोनिग्रह का राजमार्ग भी विनिर्मित किया है। भक्ति ने कामकुण्ठाओं के उदात्तीकरण का हल दिया है, जिस पर चलकर हम अपने गन्तव्य तक पहुँच सकते हैं। ❖ ❖ ❖

अग्नि-पीड़ितों को प्राथमिक राहत कार्य

बागबाजार मठ (उद्बोधन कार्यालय) के द्वारा उत्तरी कलकत्ते के उल्टाडागा मुहल्ले के आग्नि से पीड़ित ३६ परिवारों के बीच ४८ धोतियाँ, ३३ साड़ियाँ, ३२ कम्बल, ८१ तौलिए, २१ सेट बच्चों के कपड़े और ३२ सेट बर्तनों का वितरण किया गया।

उड़ीसा में तूफान-पीड़ितों का पुनर्वास

(क) रामकृष्ण मिशन ने उड़ीसा के तूफानग्रस्त इलाकों में बृहत् स्तर पर पुनर्वास कार्य आरम्भ करने का निर्णय लिया गया है। इस योजना के अन्तर्गत जगतसिंहपुर जिले के एरसामा ब्लाक के कुजकोटि ग्राम पचायत में पड़नेवाले कनगुली गाँव के एक आदर्श ग्राम के रूप में विकसित किया जायेगा। एक नमूने के मकान का निर्माण जारी है। नरेन्द्रपुर आश्रम से आयी विशेपज्ञों की टोली इस क्षेत्र का सामाजिक तथा आर्थिक सर्वेक्षण भी कर रही है।

(ख) इस तूफान पुनर्वास कार्यक्रम के ही अन्तर्गत पुरी जिले के काकतपुर ब्लाक के छित्तश्वरी ग्राम पचायत में पड़नेवाले कोटगा गाँव में एक एम.ई. स्कूल, एक प्राथमिक स्कूल तथा एक उच्चतर माध्यमिक स्कूल बनाने की परियोजना हाथ में ली गयी है। विगत १८ मार्च को इन भवनों के लिए नींव रखी गयी। इस कार्यक्रम में लगभग १००० ग्रामवासियों तथा छात्रों ने भाग लिया।

(ग) पश्चिमी बगाल में बाढ़-पीड़ितों का पुनर्वास : नरेन्द्रपुर आश्रम के माध्यम से मुर्शिदाबाद जिले के ८ वाढ़-पीड़ित गाँवों में पुनर्वास का कार्य चलाया जा रहा है। ७२० में से अब तक ५९५ मकानों का निर्माण पूरा हो चुका है और बाकी १२५ मकानों के भी प्लास्टरिंग तथा रँगाई का कार्य लगभग पूरा होने का आ रहा है।

नारायणपुर आश्रम में शताब्दी-सभा-भवन

बस्तर जिले के नारायणपुर में १२ मार्च को मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री श्री दिग्विजय सिंह के द्वारा रामकृष्ण मिशन शताब्दी सभागार का उद्घाटन किया गया। इस अवसर पर दो अन्य मत्री तथा अनेक गण्यमाण्य लोग उपस्थित थे। मध्यप्रदेश सरकार ने इस आश्रम को आदिवासी-सेवा के लिए १९९८ का डॉ. भँवर सिंह पोर्ते पुरस्कार भी दिया। इसके अन्तर्गत एक प्रशस्ति-पत्र तथा ७५,००० रुपयों की राशि दी जाती है।

प्रात:स्मरणम्

रवीन्द्रनाथ गुरु

प्रात: स्मरामि भवदीय पदाब्जयुग्मं
श्रीसारदाप्रिय सुतीर्थमयं भवेऽस्मिन्।
हे रामकृष्ण परमात्मक हंस पाहि
मा भारतीययतिराड् वितराशिषं ते ॥१॥

– हे माँ सारदा के प्रिय श्रीरामकृष्ण! इस ससार में तीर्थ-स्वरूप आपके दोनों चरणकमलों का मैं प्रात:काल स्मरण करता हूँ। हे परमहसदेव! मेरी रक्षा कीजिये। हे भारत के यतिसम्राट्! हमारे बीच अपना शुभाशीष वितरण कीजिये।

प्रातर्भजामि जगतां हितकारिणं त्वां
भागीरथीव वचनामृतवारिवाहम्।
दुष्काम-काञ्चनरतिञ्च परित्यजन्तं
काल्या: समर्पितमतिं जितरागतृष्णम् ॥२॥

– जो विश्व के हितकारी है, जिनका वचनामृत रूपी मेघ गंगा के समान पवित्र है, जिन्होंने काम-काञ्चन से मोह का परित्याग कर दिया है, जिनकी मति काली को समर्पित है और जिन्होंने आसक्ति व तृष्णा पर विजय पा ली है, ऐसा उन श्रीरामकृष्ण का मैं प्रात:काल भजन करता हूँ।

प्रातर्नमामि तु सतांवर-रामकृष्णं
वर्यावतारमखिलामरधर्मरूपम्।
धर्मस्य रक्षकमहर्निशमाश्रये त्वां
ज्योतिर्विवेकद गुरो प्रतनुष्व शं भो: ॥३॥

– हे सन्तप्रवर, अवतारवरिष्ठ, सर्वधर्मस्वरूप, सर्वदेवमय तथा धर्मरक्षक श्रीरामकृष्ण! मैं दिन-रात आपकी शरण में हूँ। हे आलोकमय विवेक प्रदाता गुरुदेव! आप कल्याण कीजिये।

य: पठेत्प्रयते नित्यं रामस्य कृष्णरूपिण:।
स्तोत्रमिदं भवेदाशु विवेकानन्दवान् हि स: ॥४॥

– जो कोई भी सयत होकर प्रतिदिन श्रीराम और श्रीकृष्ण के स्वरूप श्रीरामकृष्ण के इस प्रात:स्मरण स्तोत्र का पठन करता है, वह शीघ्र ही विवेकी तथा आनन्दवान् होता है। ❑

पहले अज्ञान का - मिथ्या का त्याग करना होगा, तभी सत्य अपने को प्रकाशित करने लगेगा। जव हम सत्य को दृढ़तापूर्वक पकड़ सकेंगे, तब पहले हमने जो कुछ भी त्याग किया था, वह फिर एक नया रूप-आकार धारण कर लेगा, एक नये आलोक में प्रकट होगा और ब्रह्ममय हो जाएगा। सब कुछ एक उदात्त भाव धारण कर लेगा और तब हम सभी पदार्थों को उनके सत्यालोक में समझ सकेंगे। किन्तु पहले हमें उन सबका त्याग करना होगा; बाद में सत्य का आभास पाने पर हम पुनः उन सबको ग्रहण कर लेंगे, पर अब ब्रह्म के रूप में।

— स्वामी विवेकानन्द